युद्ध और अहिंसा

महात्मा गांधी

सर्वोदय साहित्य माला
१०८ वाँ ग्रन्थ

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
दिल्ली लखनऊ इन्दौर वर्धा कलकत्ता इलाहाबाद

२ अक्तूबर (गांधी-जयंती)
२००० १९४१

मूल्य
बारह आना

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

मुद्रक
रामचन्द्र भारती
सरस्वती प्रेस,
दिल्ली

प्रकाशकीय

इस समय यूरोप युद्ध-दानव का रगस्थल बना हुआ है, जिसकी गूंज मे ससार के दूसरे देश आतकित है। महात्मा गाधी के अहिंसा-सिद्धान्त को देश-विदेश के महान् मनीषियों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। परन्तु कई अहिंसाधर्मियो के मन में इस समय बडी उलझन और हल-चल-सी मची हुई है, विशेषत इस रूप मे कि युद्ध के समय अहिंसा का व्यवहार्य रूप क्या हो? प्रस्तुत सग्रह इसीके सुलझाने के लिए तैयार किया गया है।

इस ग्रथ मे तीन खण्ड है। पहले मे वर्तमान यूरोपीय युद्ध के शुरू होने से लेकर 'हरिजन', 'हरिजन-सेवक' आदि के बन्द होने तक महात्मा गाधी ने जो उद्गार युद्ध-सम्बन्धी समस्याओ और प्रश्नो पर प्रकट किये उनका सग्रह है। दूसरे में वर्तमान् युद्ध से पूर्व की विश्व-राजनीति की उलझनो, सकटो आदि पर लिखे गये उनके लेख है। और तीसरे मे सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के समय उन्होने अग्रेजो को जो सहयोग दिया उसका स्पष्टीकरण करनेवाले और उनसे पूछे गये तत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नो के उत्तर मे 'यग इण्डिया', 'नवजीवन' आदि मे छपे हुए लेख सग्रहीत किये गये है। गाधीजी का हाल ही 'चर्खा-द्वादशी' पर सेवाग्राम मे दिया हुआ अतिम भाषण भी इसमें मे ले लिया गया है।

आशा है, युद्ध और युद्ध-काल में अहिंसा किस हदतक व्यवहार्य है और अहिंसा-धर्मी का क्या कर्तव्य है, इस दृष्टि को स्पष्ट करने मे इस पुस्तक का अध्ययन विशेष लाभदायक होगा।

मत्री

सस्ता साहित्य मण्डल

विषय-सूची

: २ :

. ३

युद्ध और अहिंसा

: १

वर्तमान यूरोपीय युद्ध और अहिंसा

: १ :

समझौते का कोई प्रश्न ही नहीं

जिस समय मैं दिल्ली से कालका के लिए गाडी पर सवार हो रहा था उस समय एक भारी भीड ने सद्भाव से 'महात्मा गांधी की जय!' के साथ-साथ यह भी नारा लगाया कि 'हम समझौता नहीं चाहते।' मेरा साप्ताहिक मौन था, इसलिए मैं केवल मुस्कराकर रह गया।

मेरे पास गाड़ी के पायदान पर खडे हुए लोगों ने भी मेरी मुस्कराहट के जवाब मे मुस्करा दिया और सलाह दी कि मै वाइसराय महोदय से समझौता न करूँ। मुझे एक कांग्रेस कमेटी ने भी पत्र द्वारा ऐसी ही चेतावनी दी थी। मुझे अपनी सीमित शक्ति का ज्ञान कराने के लिए चेतावनी की जरूरत नहीं थी। दिल्ली के प्रदर्शन और कांग्रेस की चेतावनी के अतिरिक्त यह बता देना मेरा फर्ज है कि वाइसराय महोदय से बातचीत मे क्या कहा-सुना गया? मै यह बात भली भाँति जानता था कि इस सम्बन्ध मे कार्य समिति ने मुझे कोई आदेश नहीं दिया। मै तार द्वारा भेजे गये निमन्त्रण को स्वीकार करके पहली गाड़ी से रवाना हो गया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरी अदम्य और पूर्ण अहिंसा मेरे साथ थी। मै जानता था कि राष्ट्रीय

माँग का प्रतिनिधित्व करने का मुझे अधिकार नहीं, और मैंने ऐसा किया, तो दुर्गति होगी। इतनी बात मैंने वाइसराय महोदय को भी बता दी थी। ऐसी स्थिति में मुझसे समझौता या समझौते की बातचीत का कोई सवाल ही नहीं हो सकता। मुझे यह मालूम नहीं हुआ कि उन्होंने मुझे समझौते की बातचीत के लिये बुलाया है। मैं वाइसराय महोदय के स्थान से खाली हाथ लौटा हूँ। मुझसे स्पष्ट या गुप्त कोई समझौता नहीं हुआ। अगर कोई समझौता होगा, तो वह कांग्रेस और सरकार के बीच होगा।

कांग्रेस-सम्बन्धी अपनी स्थिति को वाइसराय महोदय से स्पष्ट करते हुए मैंने उन्हें बताया कि मानवता के दृष्टिकोण से मेरी सहानुभूति ब्रिटेन और फ्रांस के साथ है। जो लंडन अबतक अभेद्य समझा गया है उसके विध्वंस होने की बात सोचते मेरा दिल दहल जाता है। जब मैंने वेस्ट मिनिस्टर ऐबी तथा उसके सम्भाव्य विध्वंस के बारे में सोचा तो मेरा दिल भर आया। मैं अधीर हो गया हूँ। हृदय के अन्दर मेरी परमात्मा से इस प्रश्न पर हमेशा लड़ाई रहती है कि वह ऐसी बातें क्यों होने देता है? मुझे अपनी अहिंसा बिलकुल नपुंसक मालूम पड़ती है। परंतु दिनभर के संघर्ष के बाद यह उत्तर मिलता है कि न तो ईश्वर ही और न मेरी अहिंसा ही नपुंसक है। चाहे मुझे अपनी कोशिश में असफलता मिले, परन्तु पूरे विश्वास के साथ मुझे अहिंसा का प्रयोग करते ही रहना चाहिए। मैंने २३ जुलाई को एबटाबाद से, मानों इसी मानसिक व्यथा के पूर्वाभास को पाकर हेर हिटलर के पास यह पत्र भेजा था—

"मेरे मित्र मुझसे कह रहे हैं कि मानव जाति की खातिर

मैं आपको पत्र लिखूँ। लेकिन इस खयाल से कि मेरे द्वारा भेजा गया पत्र गुस्ताखी मे शुमार होगा, मैंने उनकी बात कुछ दिन तक न मानी। कोई शक्ति मुझसे कहती है कि मुझे विचार करना चाहिए और अपील का नतीजा कुछ भी हो, अपील मुझे करनी ही चाहिए। यह स्पष्ट है कि आप विश्व मे एक ऐसे व्यक्ति हैं जो युद्ध को रोक सकते हैं। युद्ध होने पर यह सम्भव है कि मानवता क्षीण होकर बर्बरता मे परिवर्तित हो जाये। क्या आप एक वस्तु के लिए, जिसे आप कितनी भी कीमती क्यों न समझते हों, यह मूल्य देंगे ही? क्या आप एक ऐसे आदमी की अपील को सुनेंगे जिसने खुद ही जान-बूझकर लडाई को छोड़ दिया है, परन्तु उसे काफी सफलता नहीं मिली? पत्र लिखकर आपको मैंने कष्ट दिया हो, तो मैं आशा करता हूँ कि आप मुझे क्षमा करेंगे!"

क्या ही अच्छा होता कि हेर हिटलर अब भी विवेक से काम लेते तथा तमाम समझदार आदमियों की अपील, जिनमे जर्मन भी हैं, सुनते। मैं यह स्वीकार करने के लिए तैयार नही हूँ कि विध्वस के डर से लडन-जैसे भारी शहरों के खाली होने की बात जर्मन लोग शांत रहकर सोच सकते होंगे। वे शाति के साथ इस प्रकार के अपने विध्वस की बात नहीं सोच सकते। इस मौके पर मै भारत के स्वराज्य की बात नहीं सोच रहा हूँ। भारत मे स्वराज्य जब होगा तब होगा। लेकिन जब इंग्लैण्ड और फ्रांस की हार हो गयी तथा जब उन्हें विध्वस्त जर्मनी के ऊपर फतह मिल गयी तो उसका क्या मूल्य होगा? मालूम ऐसा ही पड़ता है कि जैसे हिटलर किसी परमात्मा के अस्तित्व मे विश्वास नहीं करते और केवल पशुबल को ही

मानते है। मि० चैम्बरलेन के कथनानुसार वह बलप्रयोग के सिवा किसी युक्ति की परवा नहीं करते। ऐसी आफत के समय में कांग्रेसियों तथा भारत के सारे नेताओं को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से भारत का कर्तव्य निश्चित करना है।×

× ९ सितम्बर १९३९ को शिमला मे दिया हुआ वक्तव्य।

: २ :

हेर हिटलर से अपील

"गत २४ अगस्त को लन्दन से एक बहिन ने मुझे यह तार दिया—'कृपा करके कुछ कीजिए। दुनिया आपकी रहनुमाई की राह देख रही है।' लन्दन से एक दूसरी बहिन का यह तार आज मुझे मिला—'मैं आपसे अनुरोध करती हूँ कि आपकी पशुबल में न होकर विवेक में जो अचल श्रद्धा है उसे शासकों और प्रजा के सामने अविलम्ब प्रकट करने का विचार करें।'

मैं इस सिर पर मँडरा रहे विश्व-सकट के बारे में कुछ कहने में हिचकिचा रहा था, जिसका कुछ राष्ट्रों के ही नहीं बल्कि सारी मानव-जाति के हित पर असर पड़ेगा। मेरा ऐसा खयाल है कि मेरे शब्दों का उन लोगों पर कोई प्रभाव न पड़ेगा, जिनपर लडाई का छिड़ना या शान्ति का कायम रहना निर्भर है। मैं जानता हूँ कि पश्चिम के बहुत-से लोग समझते है कि मेरे शब्दों की वहाँ प्रतिष्ठा है। मैं चाहता हूँ कि मैं भी ऐसा समझता। चूँकि मैं ऐसा नहीं समझता, इसलिए मैं चुपचाप ईश्वर से प्रार्थना करता रहा कि वह हमें युद्ध के सकट से बचाये। लेकिन यह घोषणा करने में मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं मालूम होती कि मेरा विवेक में विश्वास है। अन्याय के दमन के लिए

या झगडों के निपटारे के लिए अहिंसा का दूसरा नाम ही विवेक है। विवेक का अर्थ मध्यस्थ का किया हुआ किसी झगडे का बाध्यकारी निर्णय अथवा युद्ध नहीं है। मैं अपने विश्वास पर सबसे अधिक जोर यही कहकर दे सकता हूँ कि यदि मेरे देश को हिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता मिलना सम्भव हो, तो भी मै स्वय उसे हिंसा से प्राप्त न करूँगा। 'तलवार से जो मिलता है वह तलवार से हर भी लिया जाता है'—इस बुद्धिमानी के वचन मे मेरा विश्वास कभी नष्ट नहीं हो सकता। मेरी यह कितनी प्रवल इच्छा है कि हेर हिटलर सयुक्त राष्ट्र के राष्ट्रपति की अपील को सुनें और अपने दावे का जॉच मध्यस्थों द्वारा होने दे, जिनके चुनने मे उनका उतना ही हाथ रहेगा जितना कि उन लोगों का जो उनके दावे को ठीक नहीं समझते।"×

× २९ अगस्त १९३९ को दिया गया वक्तव्य।

: ३ :

मेरी सहानुभूति का आधार

वाइसराय की मुलाकात के बाद मैंने जो वक्तव्य दिया, उसपर अच्छे-बुरे दोनों ही तरह के खयालात ज़ाहिर किये गये हैं। एक आलोचक ने उसे भावुकतापूर्ण बकवास कहा है तो दूसरे ने उसे राजनीतिज्ञतापूर्ण घोषणा बतलाया है। दोनों अतियों में बड़ा फर्क है। मैं समझता हूँ कि अपने-अपने दृष्टि-कोण से सभी आलोचकों का कहना ठीक है, लेकिन उसके लेखक के पूरे दृष्टिकोण से वे सभी गलती पर हैं। उसने तो सिर्फ अपने सतोष के लिए ही वह लिखा था। उसमें मैंने जो कुछ कहा है उसके हरेक शब्द से मैं बँधा हुआ हूँ। हरेक मानवतापूर्ण सम्मति का जो राजनीतिक महत्त्व होता है, उसके अलावा और कोई राजनीतिक महत्त्व उसका नहीं है। विचारों के पारस्परिक सम्बन्ध को नहीं रोका जा सकता।

एक सज्जन ने तो उसके खिलाफ बड़ा जोशीला पत्र मेरे पास भेजा है। उन्होंने उसका जवाब भी माँगा है। मैं उस पत्र को उद्धृत नहीं करूँगा, क्योंकि उसके कुछ अश ख़ुद मेरी ही समझ में नहीं आये। लेकिन उसका भाव समझने में मुश्किल नहीं है। उसकी मुख्य दलील यह है—"अगर इग्लैण्ड के पार्ल-

मेण्ट भवन और वेस्टमिनिस्टर गिर्जाघर के सर्वनाश की सम्भावना पर आप आँसू वहाते है, तो जर्मनी के प्राचीन स्मारकों के सर्वनाश की सम्भावना पर आपके आँसू क्यों नहीं निकलते ? और इग्लैण्ड व फ्रांस से ही आप क्यों सहानुभूति रखते हैं, जर्मनी से आपको सहानुभूति क्यों नहीं है ? क्या हिटलर जर्मनी के उस पददलन का ही जवाव नहीं है, जो कि पिछले युद्ध के वाद मित्र-राष्ट्रों ने उसका किया था ? अगर आप जर्मन होते, हिटलर की सी साधन सम्पन्नता आपके पास होती, और सारी दुनिया की तरह आप भी वदला लेने के सिद्धान्त मे विश्वास करते होते, तो जो हिटलर कर रहा है वही आप भी करते। नाजीवाद वुरा होसकता है। दरअसल वह क्या है यह हम नहीं जानते। हमे जो साहित्य मिलता है वह एक तरफा है। लेकिन मै आपसे कहता हूँ कि चैम्वरलेन और हिटलर मे कोई फर्क नहीं है। हिटलर की जगह चैम्वरलेन होते, तो वह भी इससे भिन्न न करते। हिटलर के वारे मे विशेष न जानते हुए भी उसकी चैम्वरलेन से तुलना करके उसके साथ आपने अन्याय किया है। इग्लैण्ड ने हिन्दुस्तान मे जो-कुछ किया वह क्या किसी तरह भी उससे अच्छा है, जो कि ऐसी ही परिस्थितियों मे दुनिया के दूसरे हिस्सों मे हिटलर ने किया है ? हिटलर तो पुराने साम्राज्यवादी इग्लैण्ड और फ्रास का एक वालशिष्य मात्र है। मै समझता हूँ कि वाइसरीगल लाज मे भावुकता ने आपकी वुद्धि को दवा लिया था।"

इग्लैण्ड के कुकृत्यों का, सचाई का, खयाल रखते हुए, मैने जितने जोरों से वर्णन किया है उतने और जोरों से शायद और किसी ने नहीं किया। इसी तरह जितने प्रभावकारक

रूप में मैंने इग्लैण्ड का विरोध किया है उतने प्रभावकारक रूप मे शायद और किसी ने नही किया। यही नही वल्कि मुकावले की इच्छा और शक्ति भी मुझमे ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। लेकिन कोई वक्त वोलने और काम करने का होता है तो कोई वक्त ऐसा भी होता है जब खामोशी और अकर्मण्यता धारण करनी पड़ती है।

सत्याग्रह के कोप मे कोई शत्रु नही है। लेकिन सत्याग्रहियों के लिए नया कोप तैयार करने की मुझे कोई इच्छा नहीं है, इसलिए मै पुराने शब्दों का ही नये अर्थ मे प्रयोग करता हूँ। सत्याग्रही अपने कहे जानेवाले शत्रु के साथ अपने मित्र जैसा ही प्रेम करता है, क्योंकि उसका कोई शत्रु नहीं होता। सत्याग्रही याने अहिंसा का उपासक होने के नाते, मुझे इग्लैण्ड के भले की ही इच्छा करनी चाहिए। फिलहाल जर्मनी-सम्बन्धी मेरी इच्छाओं का कोई सवाल नहीं है। लेकिन अपने वक्तव्य के कुछ शब्दों मे मैंने यह वात कही है कि विध्वस्त जर्मनी की राख पर मै अपने देश की आजादी का महल खड़ा नही करना चाहता। जर्मनी के पुराने स्मारकों के सर्वनाश की सम्भावना से भी शायद मै उतना ही विचलित हो जाऊँ। लेकिन हेर हिटलर को मेरी सहानुभूति की कोई जरूरत नही है। वर्तमान गुण-दोषों को देखने के लिए इग्लैण्ड के पिछले कुकृत्यों और जर्मनी के पिछले सुकृत्यों का उल्लेख अप्रासगिक है। सही हो या गलत, इस वात का कोई खयाल न करते हुए कि इससे पहिले ऐसी ही हालतों मे अन्य राष्ट्रों ने क्या किया, मै इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि इस युद्ध की जिम्मेदारी हर हिटलर पर ही है। उनके दावे के वारे मे मै अपना कोई निर्णय नही देता।

यह बहुत मुमकिन है कि डानजिग को जर्मनी मे मिलाने का, अगर डानजिग-निवासी जर्मन अपने स्वतन्त्र दर्जे को छोड़ना चाहें, उनका अधिकार असन्दिग्ध हो। यह हो सकता है कि गलियारे (कोराइडर) को अपने कब्जे मे करने का उनका दावा ठीक हो। पर मेरी शिकायत तो यह है कि वह एक स्वतत्र न्यायालय के द्वारा इस दावे की जॉच क्यों नहीं होने देते? अपने दावे का पचों से फैसला कराने की बात को अस्वीकार कर देने का यह कोई जवाब नहीं है कि ऐसे जरियों के द्वारा यह बात उठाई गई है जिनका इसमे स्वार्थ है, क्योंकि ठीक रास्ते पर आने की प्रार्थना तो कोई चोर भी अपने साथी चोर से कर सकता है। मैं समझता हूँ कि मैं यह कहने मे कोई गलती नहीं करता कि हेर हिटलर अपनी मॉग की एक निष्पक्ष न्यायालय द्वारा जॉच होने दें इसके लिए सारा ससार उत्सुक था। उन्होंने जो तरीका इख्तियार किया है उसमे उन्हें सफलता होगई तो वह उनके दावे की न्यायोचितता का सबूत नहीं होगी। वह तो इसी बात का सबूत होगी कि अभी भी मानवी मामलों मे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का न्याय ही एक बडी ताकत है। साथ ही वह इस बात का भी एक और सबूत होगी कि हम मनुष्यों ने यद्यपि अपना रूप तो बदल दिया है पर पशुओं के तरीकों को नहीं बदला है।

मै आशा करता हूँ कि मेरे आलोचकों को अब यह स्पष्ट होगया होगा कि इग्लैण्ड और फ्रास के प्रति मेरी सहानुभूति मेरे आवेश या उन्माद के प्रमाद का परिणाम नहीं है। वह तो अहिंसा के उस कभी न सूखनेवाले फव्वारे से निकली है जिसे पिछले पचास सालों से मेरा हृदय पोसता आया है। मै यह

दावा नहीं करता कि मेरे निर्णय मे कोई गलती नहीं हो सकती। मैं तो सिर्फ यही दावा करता हूँ कि इग्लैण्ड और फ्रांस के प्रति मेरी जो सहानुभूति है वह युक्तियुक्त है। जिस आधार पर मेरी सहानुभूति है उसे जो लोग स्वीकार करते हैं उन्हें मैं अपना साथ देने के लिए आमन्त्रित करता हूँ। यह दूसरी बात है कि उसका रूप क्या होना चाहिए? अकेला तो मैं केवल प्रार्थना ही कर सकता हूँ। वाइसराय से भी मैंने यही कहा है कि युद्ध मे शरीक लोगों को सर्वनाश का जो मुकाबला करना पड़ रहा है उसके सामने मेरी सहानुभूति का कोई ठोस मूल्य नहीं है।

हरिजन सेवक · १६ सितम्बर, १९३९

: ४ :

पहेलियाँ

एक प्रसिद्ध कांग्रेसवादी पूछते है :

"(१) इस युद्ध के बारे में अहिंसा से मेल खानेवाला आपका व्यक्तिगत रुख क्या है ?

(२) पिछले महायुद्ध के वक्त आपका जो रुख था वही है या उससे भिन्न ?

(३) अपनी अहिंसा के साथ आप कॉंग्रेस से, जिसकी नीति इस संकट में हिंसा पर आधार रखती है, कैसे सक्रिय-सम्पर्क रक्खेंगे और उसकी कैसे मदद करेंगे ?

(४) इस युद्ध का विरोध करने या उसे रोकने के लिये आपकी ऐसी ठोस तजवीज क्या है, जिसका कि आधार अहिंसा पर हो ?"

इन प्रश्नों के साथ मेरी ऊपर से दिखलाई पडनेवाली असंगतियों या मेरी अगम्यता की लम्बी और मित्रतापूर्ण शिकायत भी है। ये दोनों ही पुरानी शिकायतें हैं, जो शिकायत करनेवालों की दृष्टि से तो बिल्कुल वाजिब है, पर मेरी अपनी दृष्टि से बिल्कुल गैरवाजिब है। इसलिए अपनी शिकायत करनेवालों और मुझमें मतभेद तो होगा ही। मैं तो सिर्फ यही कहूँगा, कि जब मैं कुछ लिखता हूँ तो यह कभी नहीं सोचता कि पहले मैंने क्या कहा

था। किसी विषय पर मैं पहले जो कुछ कह चुका हूँ उससे संगत होना मेरा उद्देश नहीं है, बल्कि प्रस्तुत अवसर पर मुझे जो सत्य मालूम पड़े उसके अनुसार करना मेरा उद्देश है इसका परिणाम यह हुआ है कि मैं सत्य की ओर निरंतर बढ़ता ही गया हूँ, अपनी याददाश्त को मैंने व्यर्थ के बोझ से बचा लिया है, और इससे भी बढ़कर बात यह है कि जब कभी मुझे अपने पचास वर्ष पहले तक के लेखों की तुलना करनी पड़ी है, तो अपने ताज़ा-से-ताज़ा लेखों से उन दोनों में मुझे कोई असंगति नहीं मिली। फिर भी जो मित्र उनमें असंगति देखते हैं, उनके लिए अच्छा यह होगा कि, जबतक पुराने से ही उन्हें कोई खास प्रेम न हो, वे उसी अर्थ को ग्रहण करें जो मेरे सबसे ताज़ा लेखों से निकलता हो, लेकिन चुनाव करने से पहले उन्हें यह देखने की कोशिश करनी चाहिए कि ऊपर से दिखलाई देनेवाली असंगतियों के बीच ही क्या एक मूलभूत स्थायी संगति नहीं है?

जहाँतक मेरी अगम्यता का सवाल है, मित्रों को यह विश्वास रखना चाहिए कि अपने विचार सम्बद्ध होने पर उन्हें दबाने का प्रयत्न मैं कभी नहीं करता। अगम्यता कभी-कभी तो संक्षेप में कहने की मेरी इच्छा के कारण होती है, और कभी-कभी जिस विषय पर मुझसे राय देने के लिए कहा जाये उसके संबंध के मेरे अपने अज्ञान के कारण भी होती है।

नमूने के तौर पर इसका एक उदाहरण दूँ। एक मित्र, जिनके और मेरे बीच दुराव की कोई बात कभी नहीं रही, रोष

के बजाय क्षोभ से लिखते हैं:—

'भारत के युद्ध की अभिनय-स्थली होने पर, जो कोई अघट-नीय घटना नहीं है, क्या गांधीजी अपने देशवासियों को यह सलाह देने के लिए तैयार हैं कि शत्रु की तलवार के सामने वे अपने सीने खोल दें? कुछ समय पहले वह जो कुछ कहते उसके लिए मैं अपने को वचनबद्ध कर लेता, लेकिन अब और अधिक विश्वास मुझे नही रहा है।'

मै इन्हें विश्वास दिला सकता हूँ कि अपने हाल के लेखों के बावजूद, वह मुझमे इतना विश्वास रख सकते है कि अब भी मै वही सलाह दूँगा जैसी कि उन्हे आशा है, मैने पहले दी होती या जैसी मैने चेकों या एबीसिनियनों को दी है। मेरी अहिंसा कडी चीज़ की बनी हुई है। वैज्ञानिकों को सबसे मजबूत जिस धातु का पता होगा उससे भी यह ज्यादा मज़बूत है। इतने पर भी मुझे खेद-पूर्वक इस बात का ज्ञान है कि इसे अभी इसकी असली ताकत प्राप्त नही हुई है। अगर वह प्राप्त हो गयी होती, तो ससार मे हिंसा की जिन अनेक घटनाओं को मै अस-हाय होकर रोज देखा करता हूँ उनसे निपटने का रास्ता भगवान् मुझे सुझा देता। यह मै धृष्टतापूर्वक नही बल्कि पूर्ण अहिंसा की शक्ति का कुछ ज्ञान होने के कारण कह रहा हूँ। अपनी सीमितता या कमजोरी को छिपाने के लिए मै अहिंसा की शक्ति को हलका नहीं आँकने दूँगा।

अब पूर्वोक्त प्रश्नों के जवाब मे कुछ पंक्तियाँ लिखता हूँ —

(१) व्यक्तिगत रूप से मुझपर तो युद्ध की जो दहशत सवार हुई है वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। आज मै जितना दिल-गीर हूँ उतना पहले कभी नहीं हुआ। लेकिन इससे भी बड़े खौफ के कारण आज मैं वैसी स्वेच्छापूर्ण भर्ती करनेवाला सार्जेण्ट नहीं बनूँगा जैसा पिछले महायुद्ध के वक्त मे बन गया था। इतने पर भी यह अजीब-सा मालूम पडेगा कि मेरी सहानुभूति मित्र राष्ट्रों के ही साथ है। जो भी हो, यह युद्ध पश्चिम मे विकसित प्रजातन्त्र और जिसके प्रतीक हेर हिटलर हैं उस निरकुशता के बीच होनेवाले युद्ध का रूप धारण कर रहा है। रूस इसमें जो हिस्सा ले रहा है वह यद्यपि दुःखद है, फिर भी हमे उम्मीद करनी चाहिए कि इस अस्वाभाविक मेल से, चाहे अनजाने ही क्यों न हो, एक ऐसा सुखद हल पैदा होगा जो क्या शक्ल अख्तियार करेगा यह पहिले से कोई नहीं कह सकता। अगर मित्र-राष्ट्रों का उत्साह भंग न हो, जिसका ज़रा भी आसार नहीं है, तो इस युद्ध से सब युद्धों का अन्त हो सकता है—ऐसे भीषण रूप मे तो जरूर ही जैसे मे कि हम आज देख रहे है। मुझे उम्मीद है कि यद्यपि भारत, अपने आन्तरिक भेदभावों से छिन्न-भिन्न हो रहा है, तो भी वह इस इष्ट उद्देश की पूर्ति तथा अबतक की अपेक्षा शुद्ध प्रजातंत्र के प्रसार मे प्रभावशाली भाग लेगा। निस्सन्देह, यह इस बात पर है कि संसार के रगमच पर जो सच्चा दुःखद नाटक हो रहा है उसमे कार्य-समिति अन्त मे जाकर कैसा भाग लेगी? इस नाटक मे हम अभिनेता और दर्शक दोनों ही हैं। मेरा मार्ग तो निश्चित

है। चाहे मैं कार्य समिति के विनम्र मार्गदर्शक का काम करूँ, या, अगर इसी बात को बिना किसी आपत्ति के मै कह सकूॅ तो कहूँगा कि, सरकार के मार्ग-दर्शक का—मेरा मार्ग-प्रदर्शन उनमे से एक को या दोनों को अहिंसा के मार्ग पर ले जाना होगा, चाहे वह प्रगति सदा अगोचर ही क्यों न रहे। यह स्पष्ट है कि मै किसी रास्ते पर किसी को जबर्दस्ती नही चला सकता। मैं तो सिर्फ उसी शक्ति का उपयोग कर सकता हूँ, जो इस अवसर के लिए ईश्वर मेरे हृदय व मस्तिष्क मे देने की कृपा करें।

(२) मै समझता हूँ कि इस प्रश्न का जवाब पहले प्रश्न के जवाब मे आ गया है।

(३) अहिंसा की भॉति हिंसा के भी दर्जे होते है। कार्य-समिति इच्छापूर्वक अहिंसा की नीति से नही हटी है। सच तो यह है कि वह ईमानदारी के साथ अहिंसा के वास्तविक फलितार्थों को स्वीकार नहीं कर सकती। उसे लगा कि बहुसख्यक कांग्रेस-जनों ने इस बात को स्पष्ट रूप से कभी भी नहीं समझा कि बाहर से आक्रमण होने पर वे अहिंसात्मक साधनों से देश की रक्षा करेंगे। सच्चे अर्थों मे तो उन्होंने सिर्फ यही समझा है कि ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ कुल मिलाकर अहिंसा के जरिये वे सफल लडाई लड सकते है। अन्य क्षेत्रों मे कांग्रेसजनों को अहिंसा के उपयोग की ऐसी शिक्षा मिली भी नहीं है। उदाहरण के लिए, साम्प्रदायिक दगों या गुण्डेपन का अहिंसात्मक रूप से सफल मुक़ाबिला करने का निश्चित तरीक़ा उन्होंने अभी नहीं

खोज पाया है। यह दलील अन्तिम है, क्योंकि वास्तविक अनुभव पर इसका आधार है। अगर इसलिए अपने सर्वोत्तम साथियों का मैं साथ छोड दूँ कि अहिंसा के विस्तृत सहयोग मे वे मेरा अनुसरण नहीं कर सकते, तो मैं अहिंसा का उद्देश नहीं साधूँगा। इसलिए इस विश्वास के साथ मैं उनके साथ ही रहा कि अहिंसात्मक साधन से उनका हटना बिल्कुल सकीर्ण क्षेत्र तक ही सीमित रहेगा और वह अस्थायी ही होगा।

(४) मेरे पास कोई खास योजना तैयार नहीं है, क्योंकि मेरे लिये भी यह क्षेत्र नया ही है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि साधनों का मुझे चुनाव नहीं करना है, चाहे मैं कार्य-समिति के सदस्यों से मन्त्रणा करूँ या वायसराय के साथ, वे साधन सदा शुद्ध अहिंसात्मक ही होने चाहिए। इसलिए जो मैं कर रहा हूँ वह खुद ही ठोस योजना का एक अङ्ग है। और बातें मुझे दिन-ब-दिन सूझती जायेंगी, जैसे कि मेरी सब योजनाओं के बारे मे हमेशा हुआ है। असहयोग का प्रसिद्ध प्रस्ताव भी मेरे दिमाग मे काग्रेस-महासमिति की उस बैठक मे, जो कि १९२० मे कलकत्ते मे हुई थी और जिसमे यह प्रस्ताव पास हुआ- कोई २४ घटे से भी कम समय मे आया, और अमली रूप मे यही हाल दाण्डी-कूच का रहा। पहले सविनय भग की नीव भी, जिसे उस वक्त निष्क्रिय प्रतिरोध का नाम दिया गया, प्रसगवश, भारतीयों की उस सभा मे पडी, जो इन दिनों के एशियाई-विरोधी कानून का मुकाबला करने के उपाय खोजने के उद्देश से १९०६ मे जोहान्सबर्ग में हुई

थी। सभा मे जब मैं गया तो उस प्रस्ताव की पहले से मुझे कोई कल्पना नहीं थी। वह तो उस सभा मे ही सूझा। इस सृजन-शक्ति का भी अभी विकास हो रहा है, लेकिन फर्ज कीजिए कि ईश्वर ने मुझे पूरी शक्ति प्रदान की है, (हालाँकि वह कभी नहीं करता) तो मै फौरन अंग्रेजों से कहूँगा कि वे शस्त्र धर दें, अपने सब आधीन देशों को आजाद कर दें, 'छोटे इंग्लैंडवासी' कहलाने मे ही गर्वानुभव करें और ससार के सब निरंकुशतावादियों के बुरे-से-बुरा करने पर भी उनके आगे सिर न झुकायें। तब अंग्रेज बिना प्रतिरोध के मरकर इतिहास मे अहिंसात्मक वीरों के रूप मे अमर हो जायेंगे। इसके अलावा, भारतीयों को भी मैं इस दैवी शहादत मे सहयोग करने के लिए निमंत्रित करूँगा। यह कभी न टूटनेवाली ऐसी साझेदारी होगी, जो 'शत्रु' कहे जाने वालों के नहीं बल्कि उनके अपने शरीरों के खून से लिखे अक्षरों मे अङ्कित हो जायेगी। लेकिन मेरे पास ऐसी सामान्य सत्ता नहीं है। अहिंसा तो धीमी प्रगतिवाला पौदा है। वह अदृश्य किंतु निश्चित रूप मे बढ़ता है। और इस खतरे को लेकर कि मेरे बारे मे भी गलतफहमी होगी, मुझे उस-और भी 'क्षीण आवाज' के अनुसार ही काम करना चाहिए।

हरिजन सेवक ३० दिसम्बर १९३९

: ५ :

भारत का रुख़

पिछले २७ अगस्त को, याने मूढ़तापूर्ण लडाई शुरू होने के ठीक पहले श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय ने मुझे लिखा था'—

"बम्बई के 'क्रानिकल' अख़बार के ज़रिये मैंने आपसे अपील की है कि आप वर्तमान स्थिति के बारे में भारत के ही नहीं बल्कि पूर्व की समस्त शोषित प्रजाओं के रुख़ को व्यक्त करें। मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि आप हमारी इस पुरानी स्थिति की फिर से ताईद कर दें कि इस साम्राज्यवादी युद्ध से हमारा कोई सरोकार नही है, बल्कि मैं चाहती हूँ कि इससे कुछ अधिक किया जाये। वर्तमान सघर्ष खासकर उपनिवेशो या जिन्हें नरम शब्दो में अब प्रभावकारी क्षेत्र कहा जाता है उनकी साधारण छीना-झपटी के बारे मे है। इस प्रश्न पर दुनिया के ख़याल में केवल दो रायें हैं, क्योंकि वह केवल दो ही मत सुनती है। एक तो वे लोग है जो पूर्वस्थिति के ही कायम रहने मे विश्वास रखते हैं, और दूसरे वे है जो उसमें तब्दीली तो चाहते हैं पर चाहते हैं उसी आधार पर—दूसरे शब्दों में कहें तो वे लूट का फिर से

बँटवारा और शोषण का अधिकार चाहते है, जिसका मतलब निस्सदेह युद्ध ही है। यह तयशुदा और स्वाभाविक-सा है कि ऐसा पुनर्विभाजन सशस्त्र सघर्ष के बिना कभी नहीं हो सकता। उसके बाद उपभोग के लिए कोई रहेगा या नहीं और उपभोग के लायक कोई चीज भी रहेगी या नहीं, यह निस्सन्देह दूसरा सवाल है। लेकिन ससार मुख्यत इन्ही दो मे बँटा हुआ है। अगर एक की बात को ठीक माना जाये, तो दूसरे की बात को भी ठीक मानना चाहिए, क्योंकि अगर इग्लैण्ड और फ्रास को बडे-बडे भू भागों और राष्ट्रो पर शासन करने का अधिकार है तो जर्मनी और इटली को भी जरूर वैसा ही अधिकार है। इग्लैण्ड और फ्रास का हिटलर को इससे रुकने के लिए कहना उतना ही कम न्यायोचित है जितना कि हिटलर का वह दावा जिसे कि वह अपना वाजिब हक बतलाता है।

"इस सम्बन्ध मे तीसरा विचार क्या है, यह ससार मुश्किल से ही सोचता जान पडता है, क्योकि वह कभी-कभी ही सुनाई पडता है। लेकिन वह इतना आवश्यक है कि वह व्यक्त होना ही चाहिए, क्योकि वह उन लोगो की आवाज है जो सारे खेल मे प्यादों के मानिद है। असली सवाल न तो डाञ्जिग का है, न पोलिश कोराइडर का। सवाल तो दरअसल उस सिद्धान्त का है, जिसपर कि इस वर्तमान पश्चिमी सभ्यता का सारा दारोमदार है। और वह है निर्बलो पर शासन करने और उनका शोषण करने के लिए बलवानो की लडाई। इसलिए यह सब उपनिवेशो

के सारे सवाल के आसपास केन्द्रित है, और हिटलर तथा मुसोलिनी ससार को इसकी याद दिलाते कभी नहीं थकते। इंग्लैण्ड ने साम्राज्य के खतरे में होने की जो आवाज उठायी है उसका भी वस्तुत यही कारण है। इसलिए इस सवाल से हम सभी का घनिष्ट सम्बन्ध है।

"हम, जैसी हालत है उसके वैसी ही बनी रहने के खिलाफ है। हम उसके खिलाफ लड रहे है, क्योंकि हम उसमें तब्दीली चाहते हैं। लेकिन युद्ध हमारा विकल्प नहीं है, क्योंकि हम यह अच्छी तरह जानते है कि उससे समस्या वास्तविक रूप मे हल नहीं होगी। हमारे पास दूसरा विकल्प ज़रूर है और वही इस भयकर गडबडी का एक मात्र हल और भविष्य की विश्व-शाति की कुन्जी है। उसी को मैं दुनिया के सामने पेश करना चाहती हूँ। आज वह अरण्य-रोदन के समान मालूम पड सकता है, मगर हम जानते है कि वही ऐसी आवाज है जो अन्त में कायम रहेगी और जो हाथ आज इन कवच-धारी भुजाओं के सामने बहुत कमज़ोर मालूम पडते है, वेही अन्त मे विध्वस्त मानवता का नवनिर्माण करेंगे।

"उस आवाज को व्यक्त करने के लिए आप सबसे उपयुक्त हैं। ससार के उपनिवेशों में, मैं समझती हूँ कि भारत का आज एक खास स्थान है। इसकी नैतिक प्रतिष्ठा भी है और इसमें संगठन-सम्बन्धी शक्ति भी है, जो बहुत थोडे उपनिवेशो में होगी। दूसरे अनेक बातों में लोग इसकी ओर पथ-प्रदर्शन के लिए निहारते है।

संसार को वह लडाई की एक ऐसी ऊँची कला का प्रदर्शन भी करा चुका है, जिसके नैतिक मूल्य की किसी न किसी दिन वह जरूर कद्र करेगा। इसलिए बिलकुल बावले और उन्मत्त संसार भारतवर्ष को यह कहना है कि मानवता को अगर बीच-बीच में होनेवाले ऐसे विनाशों से बचकर उत्पीडित संसार में शान्ति और सामंजस्य लाना है तो उसे आगे कदम बढाना ही पडेगा। जिन लोगो को इस पद्धति से इतना कष्ट उठाना पडा है और जो वीरता-पूर्वक उसे बदलने के लिए लड रहे हैं वेही पूरे विश्वास और इसके लिए आवश्यक नैतिक आधार के साथ न केवल अपनी ओर से बल्कि संसार की समस्त शोषित और पीडित प्रजाओं की ओर से बोल सकते है।"

मुझे खेद है कि 'क्रानिकल' मे प्रकाशित श्रीमती कमलादेवी का पत्र मैंने नहीं देखा। मै कोशिश तो करता हूँ, फिर भी अखबारों को पूरी तरह नहीं पढ़ सकता। इसके बाद समय के अभाव से पत्र मेरी फाइल मे रखा रहा। लेकिन मेरे खयाल मे इस देरी से पत्र के उद्देश्य मे कोई अन्तर नहीं पड़ा। बल्कि मेरे लिए शायद यही ऐसा मनोवैज्ञानिक अवसर है जब मै यह जाहिर करूँ कि भारत का रुख क्या है या क्या होना चाहिए। युद्ध करने-वाले पक्षों के उद्देश्यों का कमलादेवी ने जो विश्लेषण किया है उससे मै सहमत हूँ। दोनों ही पक्षवाले अपने अस्तित्व और अपनी गृहीत नीतियों को आगे बढ़ाने के लिए ही लड़ रहे है। मगर दोनों मे एक बड़ा फर्क जरूर है। मित्र-राष्ट्रों की घोषणायें

कितनी ही अपूर्ण और सदिग्धार्थ क्यों न हों, संसार ने उनका अर्थ यह किया है कि वे लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं। जब कि हेर हिटलर जर्मन सीमा विस्तार के लिए लड रहे हैं। हालॉकि उनसे कहा गया था कि वह अपने दावे को एक निष्पक्ष अदालतके सामने जॉच के लिए पेश करें। मगर शान्ति या समझौते के तरीके को उन्होंने उपेक्षा के साथ ठुकरा दिया और तलवार का ही रास्ता चुना। इसीलिए मित्र-राष्ट्रों के साथ मेरी सहानुभूति है। लेकिन मेरी सहानुभूति का मतलव यह हर्गिज नहीं समझना चाहिए कि मैं तलवार के न्याय का किसी भी रूप मे समर्थन करता हूँ, फिर वह चाहे निश्चित रूप से ठीक वात के लिए ही क्यों न हो। वाजिव वात मे तो ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि जगली या खूरेज़ी के साधनों के वजाय ठीक साधनों से उसकी रक्षा की जा सके। मनुष्य जिसे अपना हक या अधिकार समझता है उसको कायम रखने के लिए उसे खुद अपना खून वहाना चाहिए। अपने विरोधी का खून जो कि उसके 'अधिकार' पर आपत्ति करे, उसे हर्गिज नही वहाना चाहिए। काग्रेस जिस भारत का प्रतिनिधित्व करती है वह अपने 'अधिकार' को तलवार से नहीं वल्कि अहिसात्मक उपाय से सिद्ध करने के लिए लड़ रही है। और उसने ससार मे अपना एक अद्वितीय स्थान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, यद्यपि अभी भी अपने उद्देश्य से वह दूर है—हमे आशा करनी चाहिए कि जिस स्वाधीनता का वह स्वप्न देख रहा है वह अव वहुत दूर नहीं है। उसके

अद्‌भुत उपाय की ओर ससार का ध्यान आकर्पित हुआ है, यह स्पष्ट है। अत ससार को भारत से यह आशा करने का अधिकार है कि इस युद्ध मे, जिसे ससार के किसी भी देश की प्रजा ने नहीं चाहा, यह आग्रह करके वह निश्चयात्मक भाग ले कि इस वार शान्ति इस तरह का मजाक न हो कि विजेता युद्ध के माल का आपस मे बँटवारा कर ले और विजितों का अपमान हो। जवाहरलाल नेहरू ने, जिन्हें कि काग्रेस की ओर से वोलने का अधिकार प्राप्त है, गौरवपूर्ण भापा में कहा भी है कि शान्ति का मतलव उन लोगों की स्वतत्रता होना चाहिए जिन्हे ससार की साम्राज्यवादी सत्ताओं ने गुलाम वना रखा है। मुझे इस वात की पूरी उम्मीद है कि काग्रेस ससार को यह भी वतला सकेगी कि न्यायोचित वात की रक्षा के लिए शस्त्रास्त्र से जो शक्ति प्राप्त होती है वह इसी वात के लिए और वह भी तर्क के इससे अच्छे प्रदर्शन के साथ, अहिंसा से प्राप्त शक्ति के मुकाविले मे कुछ भी नहीं है। शस्त्रास्त्र कोई दलील नहीं दे सकते, वे तो उसका सिर्फ दिखावा ही कर सकते हैं।

हरिजन सेवक • १४ अक्तूबर, १९३९

: ६ :

कसौटी पर

कार्यसमिति के सदस्यों के साथ चर्चा करते हुए मैंने देखा कि अहिंसा शस्त्र से ब्रिटिश सरकार के खिलाफ लडने के आगे, उनकी अहिंसा कभी नहीं गयी। मैंने इस विश्वास को दिल में जगह दे रखी थी कि ससार की सबसे बडी साम्राज्यवादी सत्ता के साथ लडने में गत बीस बरस के अहिंसा के अमल के तर्कपूर्ण परिणाम को कांग्रेसजनों ने पहचान लिया है। लेकिन अहिंसा के जैसे बड़े-बडे प्रयोगों में कल्पित प्रश्नों के लिए मुश्किल से ही कोई गुंजायश होती है। ऐसे प्रश्नों के उत्तर में मैं खुद कहा करता था कि जब हम वस्तुतः स्वतंत्रता हासिल कर लेंगे तभी हमें यह मालूम होगा कि हम अपनी रक्षा अहिंसात्मक तरीके से कर सकते हैं या नहीं। लेकिन आज यह प्रश्न कल्पित नहीं है। ब्रिटिश सरकार हमारे मुआफिक कोई घोषणा करे या न करे, कांग्रेस को ऐसे किसी रास्ते का निर्णय करना ही पडेगा, जिसे कि वह भारत पर आक्रमण होने की हालत में अख्तियार करेगी। भले ही सरकार के साथ कोई समझौता न हो, तब भी कांग्रेस को अपनी

नीति तो घोषित करनी ही होगी और उसे यह बतलाना पड़ेगा कि आक्रमण करनेवाले गिरोह का मुकाबिला वह हिंसात्मक साधनों से करेगी या अहिंसात्मक।

जहाँतक कि मैं कार्यसमिति के सदस्यों की मनोवृत्ति को खासी पूरी चर्चा के बाद, समझ सका हूँ, उसके सदस्यों का खयाल है कि अहिंसात्मक साधनों के जरिये सशस्त्र आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए वे तैयार नहीं है।

यह दुखद प्रसग है। निश्चय ही अपने घर से शत्रु को निकाल बाहर करने के लिए जो उपाय अख्तियार किये जाते हैं, वे उन उपायों से, जो कि उसे (शत्रु को) घर से बाहर रखने के लिए अख्तियार किये जायें, न्यूनाधिक रूप मे मिलते-जुलते होने ही चाहिए। और यह पिछला (रक्षा का) उपाय ज्यादा आसान होना चाहिएँ। बहरहाल हकीकत यह है कि हमारी लडाई बलवान की अहिंसात्मक लडाई नहीं रही है। वह तो दुर्बल के निष्क्रिय प्रतिरोध की लडाई रही है। यही वजह है कि इस महत्त्व के क्षण मे हमारे दिलों से अहिंसा की शक्ति मे ज्वलत श्रद्धा का कोई स्वेच्छापूर्ण उत्तर नहीं मिला है। इसलिए कार्य-समिति ने यह बुद्धिमानी की ही बात कही है कि वह इस तर्कपूर्ण कदम को उठाने के लिए तैयार नहीं है। इस स्थिति मे दुःख की बात यह है कि कॉंग्रेस अगर उन लोगों के साथ शरीक हो जाती है, जो भारत की सशस्त्र रक्षा की आवश्यकता मे विश्वास करते है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि गत बीस बरस यों ही चले गये, कांग्रेसवादियों ने

सशस्त्र युद्ध-विज्ञान सीखने के प्राथमिक कर्तव्य के प्रति भारी उपेक्षा दिखायी। और मुझे भय है कि इतिहास मुझे ही, लड़ाई के सेनापति के रूप मे, इस दु खजनक बात के लिए जिम्मेदार ठहरायेगा। भविष्य का इतिहासकार कहेगा कि यह तो मुझे पहले ही देख लेना चाहिए था कि राष्ट्र बलवान की अहिंसा नहीं बल्कि केवल निर्बल का अहिंसात्मक निष्क्रिय प्रतिरोध सीख रहा है, और इसलिए, इतिहासकार के कथनानुसार, काग्रेसजनों के लिए सैनिक शिक्षा मुझे मुहैया कर देनी चाहिए थी।

इस विचार को रखते हुए कि किसी-न-किसी तरह भारत सच्ची अहिंसा सीख लेगा, मुझे यह नहीं हुआ कि सशस्त्र रक्षा के लिए अपने सहकर्मियों से ऐसा शिक्षण लेने को कहूँ। इसके विपरीत, मैं तो तलवार की सारी कला को और मज़बूत लाठियों के प्रदर्शन को अनुत्साहित ही करता रहा। और बीते के लिए मुझे आज भी पछतावा नहीं है। मेरी आज भी वही ज्वलंत श्रद्धा है कि ससार के समस्त देशों मे भारत ही एक ऐसा देश है जो अहिंसा की कला सीख सकता है, और अगर अब भी वह इस कसौटी पर कसा जाये, तो सभवत ऐसे हज़ारों स्त्री-पुरुष मिल जायेंगे, जो अपने उत्पीडकों के प्रति कोई द्वेषभाव रखे बिना, खुशी से मरने के लिए तैयार हो जायेंगे। मैने हज़ारों की उपस्थिति में बार-बार जोर दे-देकर कहा है कि बहुत संभव है कि उन्हे ज्यादा-से-ज्यादा तकलीफें झेलनी पडे, यहाँ तक कि गोलियों का भी शिकार होना पडे। नमक सत्याग्रह के जमाने मे क्या

हजारों पुरुषों और स्त्रियों ने किसी भी सेना के सैनिकों के ही समान बहादुरी से तरह-तरह की मुसीबतें नहीं झेलीं थीं? हिन्दुस्तान मे जो सैनिक योग्यता अहिंसात्मक लडाई मे लोग दिखा चुके है उससे भिन्न प्रकार की योग्यता किसी आक्रमणकारी के खिलाफ लड़ने के लिए आवश्यक नहीं है—सिर्फ उसका प्रयोग एक बृहत्तर पैमाने पर करना होगा।

एक चीज नहीं भूलनी चाहिए। नि शस्त्र भारत के लिए यह जरूरी नहीं कि उसे जहरीली गैसों या बमों से ध्वस्त होना पड़े। मजिनेट लाइन ने सिगफ्रेड को जरूरी बना दिया है। मौजूदा परिस्थितियों मे हिन्दुस्तान की रक्षा इसलिए जरूरी हो गयी है कि वह आज ब्रिटेन का एक अग है। स्वतंत्र भारत का कोई शत्रु नहीं हो सकता। और यदि भारतवासी दृढ़तापूर्वक सिर न झुकाने की कला सीख लें और उसपर पूरा अमल करने लगें, तो मै यह कहने की जुरत करूँगा कि हिन्दुस्तान पर कोई आक्रमण करना नहीं चाहेगा। हमारी अर्थनीति इस प्रकार की होगी कि शोषकों के लिए वह कोई प्रलोभन की वस्तु सिद्ध नहीं होगी।

लेकिन कुछ कांग्रेसजन कहेंगे कि, "ब्रिटिश की बात को दरकिनार कर दिया जाये, तब भी हिन्दुस्तान मे उसके सीमान्तों पर बहुत-सी सैनिक जातियाँ रहती है। वे मुल्क की रक्षा के लिए जो उनका भी उतना ही है जितना कि हमारा, युद्ध करेंगी।" यह बिल्कुल सत्य है। इसलिए इस क्षण मै केवल कांग्रेसजनों की ही बात कह रहा हूँ। आक्रमण की हालत मे वे क्या करेंगे? जब

तक कि हम अपने सिद्धान्त पर मर-मिटने के लिए तैयार न हो जायेंगे, हम सारे हिन्दुस्तान को अपने मत का नहीं बना सकेंगे।

मुझे तो विरुद्ध रास्ता अपील करता है। सेना मे पहले से ही उत्तर हिन्दुस्तान के मुसलमानों, सिक्खों और गोरखों की बहुत बडी सख्या है। अगर दक्षिण और मध्यभारत के जनसाधारण कांग्रेस का सैनिकीकरण कर देना चाहते है, जो उनका प्रतिनिधित्व करती है, तो उन्हे उनकी (मुसलमान, सिक्ख वगैरा की) प्रतिस्पर्धा मे आना पड़ेगा। काग्रेस को तब सेना का एक भारी बजट बनाने मे भागीदार बनना पड़ेगा। ये सब चीजें काग्रेस की सहमति लिए बगैर सम्भवत हो जायें। सारे ससार में तब यह चर्चा का विषय बन जायगा कि कांग्रेस ऐसी चीजों मे शरीक है या नहीं। ससार तो आज हिन्दुस्तान से कुछ नई और अपूर्व चीज देखने की प्रतीक्षा मे है। काग्रेस ने भी अगर वही पुराना जीर्ण-शीर्ण कवच धारण कर लिया, जिसे कि ससार आज धारण किये हुए है, तो उसे उस भीड़भड़क्के मे कोई नहीं पहचानेगा। काग्रेस का नाम तो आज इसलिए है कि वह सर्वोत्तम राजनीतिक शस्त्र के रूप में अहिंसा का प्रतिनिधित्व करती है। काग्रेस अगर मित्रराष्ट्रों को इस रूप मे मदद देती है कि उसमे अहिसा का प्रतिनिधि बनने की क्षमता है, तो वह मित्रराष्ट्रों के उद्देश्य को एक ऐसी प्रतिष्ठा और शक्ति प्रदान करेगी, जो युद्ध का अन्तिम भाग्यनिर्णय करने मे अनमोल सिद्ध होगी। किन्तु कार्यसमिति के सदस्यों ने जो इस प्रकार की अहिसा का इजहार नहीं किया, इसमे

उन्होंने ईमानदारी और बहादुरी ही दिखाई है।

इसलिए मेरी स्थिति अकेले मुझतक ही सीमित है। मुझे अब यह देखना पडेगा कि इस एकान्त पथ मे मेरा कोई दूसरा सहयात्री है या नहीं। अगर मै अपने को बिलकुल अकेला पाता हूँ तो मुझे दूसरों को अपने मत मे मिलाने का प्रयत्न करना ही चाहिये। अकेला होऊँ, या अनेक साथ हों, मै अपने इस विश्वास को अवश्य घोषित करूँगा कि हिन्दुस्तान के लिए यह बेहतर है कि वह अपने सीमान्तों की रक्षा के लिए भी हिसात्मक साधनों का सर्वथा परित्याग करदे। शस्त्रीकरण की दौड मे शामिल होना हिन्दुस्तान के लिए अपना आत्मघात करना है। भारत अगर अहिसा को गँवा देता है, तो ससार की अन्तिम आशा पर पानी फिर जाता है। जिस सिद्धान्त का गत आधी सदी से मै दावा करता आ रहा हूँ उस पर मै जरूर अमल करूँगा और आखिरी साँस तक यह आशा रखूँगा कि हिन्दुस्तान अहिसा को एक दिन अपना जीवन-सिद्धान्त बनायेगा, मानवजाति के गौरव की रक्षा करेगा और जिस स्थिति से मनुष्यने अपने को ऊँचा उठाया खयाल किया जाता है उसमे लौटने से उसे रोकेगा।

'हरिजन-सेवक' : १४ अक्तूबर, १६३६

: ७ :

वही पार लगायेगा

"प्रिय बन्धु,

मेरा आपसे परिचय नहीं है, पर जब सन् १९३१ में आप डार्वेन (लंकाशायर) आये थे, उस समय मेरी पत्नी और मैं आपको अपना मेहमान बनानेवाले थे कि उससे कुछ ही पहले हमको बर्लिन चला जाना पड़ा। वहाँ हमने पिछले महायुद्ध के बाद भूखों मरते बच्चों में कष्ट-निवारण का काम किया था। इस बार भी हम ४॥ वर्ष जर्मनी में रहे। इससे हमें वहाँ के ताजे हालात का खासा ज्ञान है। हमें वहाँ के बहुत-से लोगों के साथ प्रेम भी हो गया है।

इस लड़ाई के शुरू में 'हरिजन' में आपकी कुछ पंक्तियाँ पढ़कर मुझे बड़ी दिलचस्पी पैदा हुई और प्रेरणा मिली। आपने लिखा था कि, 'अगर हिंसा से मेरे देश की आजादी मिलती हो तो भी मैं उस क़ीमत पर उसे नहीं लूँगा। मेरा यह अटल विश्वास है कि तलवार से ली हुई चीज़ उसी तरह चली भी जाती है।' बहन अँगाथा हैरीसन ने भी मुझे आपके कुछ लेख बताये। इनसे

मुझे युद्ध के बारे में आपका रवैया समझने में मदद मिलती है। फिर भी मेरे मन पर चिन्ता का भार है। मैं वही आपके सामने रखना चाहता हूँ।

आज-कल बहुत-से पक्के शान्ति-प्रेमियों का भी यह हाल है कि जब कभी उनके देशों की स्वतन्त्रता बुरी तरह छीनी जाती है तो वे खुद भले ही युद्ध से अलग रहें, मगर वे समझते हैं कि खोई हुई आज़ादी को वापस लेने के लिए लड़ना अनिवार्य ही नहीं, उचित भी है। क्या ऐसे वक्त में आप जैसे आध्यात्मिक नेता और ईश्वरीय दूत का यह फ़र्ज़ नहीं है कि आगे बढ़कर युद्ध के पागलपने के बजाय कोई दूसरा ऐसा रास्ता सुझायें जिससे आपस के झगड़े तो दूर हो ही सकें, बुराई का मुकाबिला और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति भी हो सके? मेरी समझ में नहीं आया कि जिस उत्तम मार्ग के आप अगुआ हैं उसकी संसार के आगे घोषणा न करके आप युद्ध से पैदा हुई स्थिति से भारत की स्वतन्त्रता के हक में लाभ उठाने की छोटी-सी बात क्यों सोच रहे हैं? मुझे लगता है कि शायद मैं आपको समझने में गलती कर रहा हूँ। मै चाहता हूँ कि परमात्मा आपके देश की शुभाशायें पूरी करे, मगर यह साम्राज्यवादी ब्रिटेन को हिंसात्मक युद्ध में मदद देकर किसी सौदे की तरह पूरी न हो, बल्कि एक नया और पहले से अच्छा जगत् निर्माण करने की योजना के सिलसिले में होनी चाहिएँ।

युद्ध की पीड़ा और निराशा से विदीर्ण होकर मेरा हृदय आप

को पुकार रहा है। मेरी तरह संसार में बहुत लोग ऐसे हैं जो इस बुराई में से समय रहते मानव जाति को मुक्त देखने के लिए तरस रहे हैं। शायद आप ही ऐसे आदमी हैं, जो हमारी मदद कर सकते हैं। कृपया विचार कीजिए।

४६, पार्लिमेंट हिल आपका
लंदन, एन. डब्ल्यू. ३ कॉर्डर कैचपूल"

यह लेखक के पत्र का सार है। मैं जानता हूँ कि इसमें जो रवैया प्रगट किया गया है वही अनेक अंग्रेजों का है। वे कोई अच्छा रास्ता सुझाने के लिए मेरी तरफ देख रहे हैं। मेरे सत्तर साल पूरे होने के उपलक्ष में सर राधाकृष्णन ने जो अभिनन्दन-ग्रंथ छपाया है उससे शांति के हजारों उपासकों की आशायें गहरी हो गई हैं। मगर यह तो मैं ही जानता हूँ कि इन आशाओं की पूर्ति के लिए मैं कितना कमज़ोर साधन हूँ। भक्तों ने मुझे जो श्रेय दिया है उसका मैं हकदार नहीं रहा हूँ। मैं अभी यह साबित नहीं कर सका हूँ कि हिन्दुस्तान बलवानों की अहिंसा का कोई बढ़िया उदाहरण दुनिया के सामने पेश करता है और न यह कि हमला करनेवाले के खिलाफ सशस्त्र युद्ध के सिवाय कोई और भी कारगर उपाय हो सकता है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दुस्तान ने यह तो दिखा दिया कि कमज़ोरों के हथियार के रूप में निष्क्रिय अहिंसा काम की चीज़ है। यह भी सही है कि आतंकवाद के बजाय अहिंसा उपयोगी है। मगर मैं यह दावा नहीं करता कि यह कोई नई या बड़ी बात है। इससे शांति के आन्दोलन को

कुछ भी मदद नही मिलती।

मेरे पिछले लेख का पत्र-लेखक ने जो हवाला दिया है उसमें और कांग्रेस की मॉग के साथ मेरे एकरस होजाने मे विरोध दिखायी दे, तो कोई अचरज की बात नहीं है। मगर विरोध जैसी चीज असल मे है नहीं। उस वक्त क्या, मै तो अब भी अहिंसा का बलिदान करके आजादी नही लूँ। आलोचक यह ताना दे सकता है कि ब्रिटिश सरकार से जो घोषणा चाही जाती है वह करदे तो आप मित्र-राष्ट्रों की मदद करने लगेंगे और इस तरह हिंसा के भागीदार बन जायेंगे। यह ताना वाजिब होता, अगर बात यह न होती कि कांग्रेस की सहायता तो शुद्ध नैतिक सहायता होगी। कांग्रेस न धन देगी, न जन। उसके नैतिक प्रभाव का उपयोग भी शांति के लिए किया जायगा। मैं इस अखबार मे पहले ही कह चुका हूँ कि मेरी अहिंसा बचाव और हमला करनेवाली अलग-अलग किस्म की हिंसाओं को मानती है। यह सही है कि अन्त मे यह भेद मिट जाता है, मगर आरम्भ मे तो उसका मूल्य है ही। मौका पडने पर अहिंसावादी व्यक्ति के लिए यह कहना धर्म हो जाता है कि न्याय किस तरफ है। इसीलिए मैंने अबीसीनिया, स्पेन, चेकोस्लावाकिया, चीन और पोलैण्ड के निवासियों की सफलता चाही थी, हालॉकि मैंने हर सूरत मे यह चाहा था कि वे लोग अहिंसात्मक मुकाबिला करते। मौजूदा मामले मे अगर चेम्बरलेन साहब ने जो ऊँची बातें कहीं हैं उनपर अमल करके ब्रिटेन अपना दावा कांग्रेस के सामने सच्चा साबित करदे और हिन्दुस्तान

आजाद घोषित कर दिया जाये, तो वह अपना सारा नैतिक प्रभाव शान्ति के पक्ष मे जुटा देगा। मेरी राय में जो हिस्सा मै इस काम में ले रहा हूँ वह बिल्कुल अहिंसात्मक है। कांग्रेस की मॉग के पीछे कोई सौदे की भावना नहीं है। वह मॉग है भी तो खालिस नैतिक। न सरकार को तङ्ग करने की इच्छा है। सविनय-भग भी जल्दबाजी में शुरू न होगा। इस बात की सावधानी रखी जा रही है कि कांग्रेस की मॉग पर जो भी उचित आपत्ति हो उसका समाधान किया जाये और वांछित घोषणा करने मे ब्रिटेन को जो भी कठिनाई मालूम हो उसे कम किया जाये। जो अधीर कांग्रेसी अहिंसात्मक ही सही, लडाई के लिए छटपटा रहे है उनपर खूब जोर डाला जा रहा है। मैं खुद यह चाहता हूँ कि शाति-स्थापन के काम मे मै कारगर हिस्सा लेने के योग्य हो जाऊँ। ऐसा मै उसी हालात मे कर सकता हूँ, जब हिन्दुस्तान सचमुच ब्रिटेन का आजाद साथी बन जाये, भले ही कानूनी क्रियायें युद्ध खत्म होने के बाद होती रहें।

लेकिन मै हूँ कौन ? जो ईश्वर मुझे देता है इसके अलावा मेरे पास कोई ताकत नहीं है। सिर्फ नैतिक प्रभाव के अलावा मेरी देश-वासियों पर भी कोई सत्ता नहीं है। इस समय ससार पर जिस भीषण हिंसा का साम्राज्य है उसकी जगह अहिंसा स्थापित करने के लिए ईश्वर मुझे शुद्ध अस्त्र समझता होगा तो वह मुझे बल भी देगा और रास्ता भी दिखायेगा। मेरा बड़ा से बड़ा हथियार तो मूक प्रार्थना है। इस तरह शान्ति स्थापन का काम

ईश्वर के समर्थ हाथों मे है। उसके हुक्म के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। उसका हुक्म उसके कानून की शक्ल मे ही जारी होता है। यह कानून सदा वैसा ही रहता है, कभी बदलता नहीं उसमे और उसके कानून मे कोई भेद भी नहीं है। हम उसे और उसके कानून को किसी आईने की मदद से ही पहचान सकते है और वह धुंधला-सा। पर उस कानून की जो हलकी सी झलक दिखाई देती है वह मेरे अन्तर को आनन्द, आशा और भविष्य मे श्रद्धा से भर देने के लिए काफ़ी है।

'हरिजन-सेवक' · ६ दिसम्बर, १९३९

: ८ :

असल बात

एक मित्र ने मुझे एक पत्र लिखा है। वह लगभग ज्यों-का-त्यों यह है :

हम सबके दिलों मे आपका जो विशेष स्थान है उसके कारण आपपर इतनी भारी जिम्मेदारियाँ आ पडी हैं कि आपको पत्र लिखकर उस बोझ को बढाने में मुझे हमेशा सकोच रहता है। असल मे, मैं उसी समय लिखता हूँ जब मुझसे किसी खास प्रेरणा के कारण रहा ही नहीं जाता। आप जानते हैं कि लडाई शुरू होने के महीनो पहले से मेरे मन में कितनी गहरी चिन्ता रही है। आपको मेरा यह पक्का विश्वास भी मालूम है कि युद्ध अनिवार्य था, क्योंकि इसके मूल कारण इतने गहरे चले गये थे कि बातचीत से मामला सुलझ नहीं सकता था।

"कांग्रेस ने अपने प्रस्ताव मे यह माँग की कि अंग्रेज खासकर साम्राज्य के मातहत देशों और हिन्दुस्तान के लिए अपने इरादे खोलकर बतायें। यह मुझे बहुत सुन्दर लगा। इससे नैतिक प्रश्न साम्राज्य-सरकार के सीधे सामने आगये और जो स्वार्थपूर्ण

और आदर्शहीन उपयोगिता का बुरा वातावरण आज दुनिया के मामले निपटाने में राजनीतिज्ञों पर हावी हो रहा है उसके बीच में हिन्दुस्तान एक अजीब शान के साथ खड़ा दिखाई देता है। यह तो मुझे आशा थी ही कि अंग्रेज लोग सीधा-सच्चा जवाब न दे सकेंगे और बगलें झांकेंगे। जब हिन्दुस्तान को 'स्वाधीनता' मिलेगी, तो उसका सबब यही होगा कि उसे हासिल करने में रुकावट डालने की किसी की शक्ति नहीं रही थी। 'स्वाधीनता' से मेरा अभिप्राय यह है कि हिन्दुस्तान को अंग्रेजों और बाकी दुनिया के साथ कैसे सम्बन्ध रखना है, इसका निर्णय करने की आज़ादी हो। मेरे खयाल में वह समय अभी नहीं आया है, पर वह प्रस्ताव पास होने के बाद हर हिन्दुस्तानी, फिर वह कहीं भी हो, दूसरे राष्ट्रों के लोगों के सामने अभिमान और गौरव के साथ चार आँखें कर सकता है। मुझे तो उससे बड़ी प्रेरणा मिली।

"इस मामले में कांग्रेस के रवैये और काम से मैं सोलह आने सहमत हूँ। मगर कुछ दूसरी बातों में मेरी-उसकी पूरी तरह एक राय नहीं है। मुझे मालूम है कि अगर मैं बताऊँ तो आप धीरज से सुनेंगे।

"पहली बात तो यह है कि मुझे ऐसा लगता है कि इस मामले को कुछ ऐसा समझा जा रहा है मानो यह सिर्फ अंग्रेजों को मदद देने की बात हो। और अगर अंग्रेज हिन्दुस्तान से मदद लेना चाहते हैं तो यह उनका काम है कि हिन्दुस्तान की वाजिब माँगों को मान लें। भीतरी अर्थ यह भी मालूम होता है

कि जर्मनी की जीत को रोकने की चिन्ता अंग्रेजो को ही मुख्यत. करनी चाहिए। हिन्दुस्तान दिल से सहायता देगा तो यह उसकी एक तरह की मेहरबानी होगी। यह मेहरबानी उसी हालत में की जानी चाहिए, जब हम अंग्रेजो को उसका हकदार समझें। ये हक वे इस देश के सम्बन्ध मे अपनी नेकनीयती दिखाकर ही साबित कर सकते हैं।

"बेशक वे अपनी नेकनीयती साबित करदें तो बडी बढिया बात हो, पर जैसा कि मेरे ख़याल से मैंने पिछले पत्र में आपको लिखा है, मुझे इसमें बहुत विश्वास नहीं है। मैं मानता हूँ कि नीति या न्याय के ख़याल से नहीं बल्कि ससार की परिस्थिति से मजबूर होकर ही अंग्रेज जिन देशों पर उनकी हुकूमत है वहाँ से अपने विशेष अधिकार छोडेंगे। इसके बावजूद मेरी राय मे हमें उनकी 'पात्रता' की तरफ नहीं देखना चाहिए। और न उनकी अपात्रता से हमे जरा भी वह सब मदद देने में रुकावट होनी चाहिए जो हम इस सकट के मौके पर पश्चिमी 'लोकतन्त्रों', यानी ब्रिटेन और फ्रांस को दे सकते हैं।

"मुझे तो ऐसा लगता है कि उनकी पात्रता का सवाल नहीं उठता है। चेम्बरलेन और दूसरे लोग उन्हें "शान्ति-प्रेमी राष्ट्र" कहते हैं। अवश्य ही वे शान्ति चाहते है, बशर्ते कि वे दुनिया के साधनों के बटवारे का मौजूदा आधार क़ायम रखकर सुलह कर सकें। वे अपने आपको न्याय-प्रेमी राष्ट्र भी बताते हैं। तो भी, और हिटलर इस लडाई के लिए जिम्मेदार हो जैसा कि

वह बेशक है तो भी मौजूदा साम्यवादी राष्ट्र और सयुक्त राज्य (अमरीका) ही अन्त में दुनिया की उस अन्यायपूर्ण परिस्थिति के लिए जिम्मेदार है जिससे हिटलर, हिटलर बन सका। बेशक, इस लडाई और पिछली लडाई दोनों का अन्तिम दोष जर्मनी की अपेक्षा फ्रांस और इंग्लैंड का ही अधिक है। इतने पर भी इन सब बातों का यह मतलब नहीं है कि जर्मनी की जीत से न्याय या दुनिया की भलाई बढ़ेगी। वे इटली और जापानवालों की तरह इस कल्पना को उत्साह के साथ मानने लगे हैं कि गैर-युरोपियन जातियों पर साम्राज्यवादी हुकूमत कायम की जाये। यह काम वे अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और डच लोगों के ही हाथ में न छोडकर खुद भी उसमें शामिल होना चाहते हैं। नतीजा यह होगा कि जर्मनों की सच्ची जीत हुई तो साम्राज्यवाद के उसूल की जिन्दगी और भी बढ जायगी और मुझे भरोसा है कि गैर-युरोपियन जातियों की पराधीनता पहले से कहीं अधिक गम्भीर और पतित हो जायेगी—इसलिए कि उस हालत में साम्राज्यवाद शासकों के इस यक़ीन पर कायम होगा कि हम "ऊँची नसल" के हैं, इसलिए हमें पराधीन जाति के स्वार्थों को पूरी तरह हमारे अपने स्वार्थों के मातहम रखने का पूरा अधिकार है। जर्मनों के बारे में जितना मैं खुद जानता हूँ उससे मुझे डर है कि उन्होंने जीतकर यदि संसार-व्यापी साम्राज्य कायम कर लिया तो वे "जाति" के इस तत्वज्ञान को निठुरता से अमल मे लाकर उसे ठेठतक पहुँचाये बिना न रहेंगे। और हम अपने इन "आर्यन" प्रभुओं के "लकडहारे और पनिहारे"

हो जायेंगे ।

"देश की भीतरी कमज़ोरी या असन्तोष से जर्मन सरकार की जल्दी ही कमर टूट जाये तो बात दूसरी है । नहीं तो मुझे लड़ाई के तीन ही परिणाम सम्भव प्रतीत होते हैं · (१) जर्मनी की जीत (२) अंग्रेजों और उनके मित्रों की जीत (३) किसी भी पक्ष की साफ जीत न होकर गाड़ी रुक जाये ।

"इनमें से पहली बात हो तो मेरे ख़याल से उससे बढ़कर और कोई विपत्ति—ख़ासकर कमज़ोर ग़ैर-युरोपियन जातियों के लिए—नहीं हो सकती । मैं बहुत भूल नहीं कर रहा हूँ तो उनके लिए यह बात 'खड्ड में से निकलकर कुएँ में गिरने' जैसी होगी और वह भी पहले से बदतर ।

"मुझे ऐसा भी लगता है कि अगर अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों की पूरी और भारी जीत हुई और जर्मन फिर उनकी दया पर रह गये, तो भी ससार के लिए मुसीबत ही होगी । हाँ, यह मुसीबत जर्मनी की जीत से कहीं कम होगी । मगर इसमें उन अवस्थाओं के स्थायी होने की सम्भावना रहेगी जो इस लड़ाई और पिछले महायुद्ध के मूल कारण हैं और कुछ साल बाद सब राष्ट्रों के नौजवानों को फिर घरों से निकल-निकलकर विशेष स्वार्थों और साम्राज्य के अधिकारों को क़ायम रखने के लिए अपने प्राण देने पड़ेंगे । नहीं, मित्र राष्ट्रों की जीत से भी समस्या हल न होगी । हमें फिर वही वर्साई की सधि के परिणाम भुगतने पड़ेंगे ।

"तीनों में सब से अच्छा नतीजा तो यही हो सकता है कि

किसी पक्ष की पूरी जीत न हुई हो, दोनों ने बराबरी के नाते संधि-चर्चा करके सुलह कर ली हो और दोनों अच्छी तरह समझ गये हों कि और लड़ने का अनिवार्य परिणाम यही होगा कि संसार छिन्न-भिन्न हो जाये और अव्यवस्था फैल जाये। जब नौबत यहाँतक पहुँच जायगी कि दोनों पक्षो को साफ़-साफ़ मालूम हो जायगा कि समझौता नही करेंगे तो मिट जायँगे, मेरे ख़याल से तभी किसी ऐसे निपटारे की आशा हो सकती है जिससे ससार में सच्ची शान्ति स्थापित हो जाये और राष्ट्रो के आपसी सम्बन्ध भविष्य मे अधिक सन्तोषजनक रह सकें।

"बड़ी मुश्किल तो यह है कि इस लड़ाई के परिणाम के विषय मे निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अख़बारों में जो दिलासा देनेवाला प्रचार हो रहा है उसके बावजूद दोनों तरफ की ज़ाहिरा और भीतरी शक्तियाँ इतनी बराबर की-सी हैं कि अगर यह देश अंग्रेजों की पूरी तरह सहायता न करे तो पूरे विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि अन्त में ब्रिटेन की हार नहीं होगी। उसका अर्थ होगा ७ करोड से ऊपर जर्मनो की जीत—यानी ऐसे लोगों की जीत जिनके दिलों मे यह विश्वास जम गया है कि वे एक "ऊँची नसल" के हैं और इसलिए उन्हें दुनियाभर पर अपना साम्राज्य रखने का हक है। मेरा पक्का विश्वास है कि दोनो में से यह विपत्ति बड़ी होगी।

"अगर मुझे इतना भर मालूम हो जाये कि हिन्दुस्तान के बिलकुल अलग रहने पर भी युद्ध का ऐसा अन्त न होगा तो मैं

ज़रूर इस बात के हक़ में हो जाऊँगा कि यह देश इस समय कुछ भी मदद न दे और जिनके पास साम्राज्य है और जो साम्राज्य बनाना चाहते हैं उन दोनों को एक दूसरे के भेजे में समझ भरने के लिए छोड़ दिया जाये। इतना ही नहीं, मुझे यक़ीन हो जाये कि हिन्दुस्तान इस वक्त कठिनाइयाँ पैदा करके गाड़ी न रोक देगा तो भी अंग्रेजों और उनके मित्रों की ही पूरी जीत होगी, तो मैं पसन्द करूँगा कि हम ब्रिटेन की मुश्किलें बढ़ाकर वह परिणाम लायें। मगर यह यक़ीन तो हो नहीं सकता और नाज़ी सरकार की जबरदस्त जीत हुई तो इतनी भारी विपत्ति होगी कि मेरी राय में उसकी जोखिम उठाना हमारे लिए ठीक नहीं है। वह जोखिम बहुत बड़ी है।

"सवाल यह नहीं है कि हम अंग्रेजों को जर्मनी पर विजय पाने में मदद देने की कृपा करें या न करें। नाज़ी जर्मनी लड़ाई में जीतकर दुनिया भर में अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता है। यह वह उन शक्तियों को हराकर ही कर सकता है कि वे जर्मनी को रोक सकती हैं। हमारे सामने सवाल यह है कि हम दूसरों के साथ शामिल होकर इस तरह की जीत को असम्भव बनायें या न बनायें। हम, जो इस समय संसार के शोषित और पराधीन राष्ट्र हैं, जर्मनी की जीत को बर्दाश्त नहीं कर सकते। मुझे डर है कि इस वक्त हमने उसे रोकने में शामिल होने से इन्कार किया और अफ्रीका और उसके फलस्वरूप जर्मनी जीत गया तो संसार को और खासकर एशिया और अफ्रीका की ग़ैर-युरोपियन और सैनिक दृष्टि से कम-

ग़ैर जातियों को जो परिणाम भोगने पडेंगे उनकी ज़िम्मेवारी से हम न वच सकेंके, हालाँकि यह सच है कि लडाई की परिस्थिति पैदा करने में हमारा कुछ भी हाथ नहीं है।

"आज मैंने 'न्यूज़ क्रानिकल' को भेजा हुआ आपका वक्तव्य देखा। आपने मुद्दे कितने वढ़िया ढंग से निकाले हैं और इन मुद्दों को पश्चिमवालों के सामने हर वक्त रखना कितना ज़रूरी है! फिर भी मुझे लगता है कि आनेवाले समय का तकाज़ा और भी कुछ है वह यह है कि अंग्रेज़ जवतक हमारी उचित माँगों को मान न लें, तवतक हम इस नाज़ुक मौके पर हाथ-पर-हाथ धरे न वैठे रहें। सम्भव है, लडाई के नतीजे का दारोमदार इसी पर हो कि यह देश अन्त में नहीं वल्कि इस समय क्या रास्ता पकडता है।

"मुझे जर्मनों से ज़रा भी घृणा नहीं है। उल्टे, मुझे उनके साथ गहरी सहानुभूति है। मुझे लगता है कि उनके और वैसे ही दूसरे जिन राष्ट्रों के पास साम्राज्य नही है उनके साथ वडा अन्याय हो रहा है और जिन राष्ट्रों के पास साम्राज्य है उनका वश चले तो वे इस अन्याय को सदा के लिए वनाये रखें। मगर मुझे नाजियों के मौजूदा दृष्टिकोण से ज़रूर नफरत और अन्देशा है, और वह खास तौर पर इसलिए कि जिन्हें वे 'नीची नसल' समझते हैं उनके साथ उनका व्यवहार वहुत वुरा होगा। मुझे रूस की भी इस वात से वडी घृणा है कि वहाँ 'अवाछनीय लोगों की छटनी' वहुत वेदर्दी के साथ की जाती है और आज़ादी के साथ विचार और आलोचना करने का ख़ानगी हक़ छीना जाता है फिर

भी जर्मनों के मौजूदा विचारों को देखते हुए मैं उनके बजाय यह पसन्द करूँगा कि दुनिया पर रूसियों का आधिपत्य भले ही हो। रूसी कम-से-कम "ऊँची नस्ल" के तत्वज्ञान से तो कोई सरोकार नहीं रखेंगे। भले ही वे बीच बीच के वर्गवालों का सफाया करदें, पर जो बच रहेंगे उनके साथ नीची नसल का सा बर्ताव तो न करेंगे। मगर जर्मनों के दृष्टिकोण से तो हम सभी के लिए खतरा भरा है। मेरी समझ से इस बारे में कोई भी जोखम उठाना हमारे लिए पागलपन होगा।

"इस बीच दिन-दिन और घटा-घटा करके कीमती समय चला जा रहा है और हिन्दुस्तान ने अभी तक यह विश्वास नहीं करा दिया है कि वह अंग्रेजों की परेशानी का कारण नहीं बनेगा। यह देखकर क्या ससारभर में नाजीवाद की शक्तियों का हौसला और बल नहीं बढ़ेगा ? मुझे नहीं दीखता कि इससे गैर-यूरोपियन जातियों की या जगत को कोई सेवा होगी।"

इसका मैंने नीचेलिखा उत्तर दिया है—

'कोई अन्धविश्वास भले कहे तो भी मुझे एक चीज से प्रेम है। व किसी मामले में दोनों ही तरफ अनीति न हो, और मुझे ई शंका हो कि किधर जाऊँ तो मैं चितपट कर लेता हूँ और ससे मुझे सचमुच ऐसा लगता है कि ईश्वर का हाथ है। मेरा र कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। मेरी राय में अन्तिम सत्ता श्वर में ही मानना वैज्ञानिक तरीका है। मौजूदा संकट में भी ने एक तरह के चितपट का आश्रय लिया है। अगर मेरी ही

चलती तो आपको मालूम है कि क्या हुआ होता। पर वह होना नहीं था। कांग्रेस के तरीके मे अनीति तो थी ही नही, उसके लिए नैतिक मार्ग भी एकमात्र वही था। यही वजह है कि मैंने कांग्रेस का साथ दिया। ऐसा करने मे मेरा उद्देश्य यह था कि मेरे प्रस्ताव मे जो अहिंसात्मक तरीका था उसीको और भी आगे वढा सकूँ। कांग्रेस के तरीके मे उस अर्थ की गुंजाइश थी जो लेखक ने लगाया है। मै इसे कोई शर्त नही मानता। यह तो चितपट है। कांग्रेस का कहना है कि अंग्रेजों का इरादा पाक है, तो हम मैदान मे कूद पड़ेंगे। इस इरादे की परीक्षा करने का उपाय यह जान लेना है कि अंग्रेज हिन्दुस्तान के बारे मे क्या सोचते है। अगर अंग्रेजों का उद्देश्य शुद्ध है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर चाहता है कि कांग्रेस अपना सारा प्रभाव अंग्रेजों के पक्ष मे लगा दे ताकि अन्त मे जीत सबसे प्रबल सेना की न होकर प्रबल पक्ष की हो। आप जो चीज चाहते हैं वह तो पहले से ही अंग्रेजों के हाथ मे है। बेरोक-टोक धन-जन लिये जा रहे हैं। जबतक हिंसा नहीं फूट पडती, तबतक ये दोनों चीजें उन्हे मिलती रहेंगी। हिंसा को कांग्रेस बर्दाश्त नहीं करेगी। इसी-लिए यह मानकर चला जा सकता है कि जहाँतक हिंसात्मक तरीके का सम्बन्ध है अंग्रेजों को कांग्रेस से जरा भी नहीं डरना चाहिए। मेरी राय मे सिर्फ अहिंसात्मक दृष्टि-कोण ही सोचने लायक है और उसको देखा जाये तो जबतक अंग्रेजों की नैतिक स्थिति साफ न हो जाये, तबतक कांग्रेस का उन्हें नैतिक सहायता

देना अनीतिपूर्ण होगा।

"आपकी तरह मैं नाजीवाद के बारे में कोई नियम नहीं बनाना चाहता। जर्मन भी वैसे ही मनुष्य हैं जैसे आप या मैं। और 'वादों' की तरह नाजीवाद भी आज का खिलौना है। जो उनका हाल होना है वही इसका भी होगा।

"आप और मुझमें जो फर्क है वह मेरी समझ में आ गया है। पश्चिमी होने के कारण आप बुद्धि को श्रद्धा के मातहत नहीं कर सकते। मैं हिन्दुस्तानी ठहरा। मैं चाहूँ तो भी श्रद्धा को बुद्धि के अधीन नहीं कर सकता। आप परमपिता परमात्मा को भी अपनी बुद्धि से ललचाना चाहते हैं। मैं ऐसा नहीं कर सकता। दैवं चैवात्र पचमम्।"

"हमारे बौद्धिक मतभेदों के बावजूद हमारे हृदय हमेशा ही एक रहे हैं, और रहेंगे।"

'हरिजन-सेवक' २३ दिसम्बर, १९३९

: ९ :

अहिंसा फिर किस काम की ?

क हिन्दुस्तानी मित्र के पत्र का सार नीचे दे रहा हूँ :—

"दिल दुखता है नार्वे की दर्दभरी कहानी सुनकर। वे लोग हिम्मत से लडे तो सही, लेकिन अधिक बलवान दुश्मन के मुकाबिले में हार बैठे। इससे हिंसा की निरर्थकता साबित होती है। लेकिन क्या हम दुनिया की समस्या को हल करने के लिए कुछ अहिंसा सिखा रहे है ? ब्रिटेन को परेशान करके क्या हम जर्मनी को उत्साहित नहीं कर रहे हैं ? नार्वे और डेन्मार्क हमारे रुख को कैसे ठीक समझ सकते हैं ? उनके लिए हमारी अहिंसा किस काम की ? चीन और स्पेन को हमने जो इमदाद दी, उसके बारे में भी वह गलतफहमी कर सकते है। आपने जो फर्क किया है वह केवल इसलिए कि साम्राज्यवादी ताकत को आप मदद नहीं देना चाहते, हालाँकि वह एक अच्छे काम के लिए लड रही है। पिछली लड़ाई मे आपने भर्ती करवाई लेकिन आज आपका ख़याल बिलकुल दूसरा है। फिर भी आप कहेंगे कि यह सब ठीक है। यह कैसे ? मैं तो नहीं समझता हूँ।"

डेन्मार्क और नार्वे के अत्यन्त सुसंस्कृत और निर्दोष लोगों की किस्मत पर अफसोस करनेवालों में लेखक अकेले ही नहीं हैं। यह लड़ाई हिंसा की निरर्थकता दिखला रही है। फर्ज किया जाये कि हिटलर मित्र-राज्यों पर विजय हासिल कर लें, तो भी वह ब्रिटेन और फ्रांस को हर्गिज गुलाम नहीं बना सकेंगे। उसका अर्थ है दूसरी लड़ाई। और अगर मित्र-राज्य जीत जायें तो भी दुनिया की बेहतरी नहीं होगी। लड़ाई में अहिंसा का सबक सीखे बिना और अहिंसा के जरिये जो फायदा उठाया है उसे छोड़े बगैर वह अधिक शिष्ट भले ही हों, पर कुछ कम बेरहम नहीं होंगे। चारों ओर, जिन्दगी के हर पहलू में न्याय हो, यह अहिंसा की पहली शर्त है। मनुष्य से इतनी अपेक्षा करना शायद अधिक समझा जाये। लेकिन मैं ऐसा नहीं समझता। मनुष्य कहाँ-तक ऊँचा जा सकता है और कहाँतक गिर सकता है इसका निर्णय हम नहीं कर सकते। पश्चिम के इन मुल्कों को हिन्दुस्तान की अहिंसा ने कोई सहायता नहीं पहुँचाई है। इसका कारण यह है कि यह अहिंसा अभी खुद बहुत कमजोर है। उसकी अपूर्णता देखने के लिए हम उतने दूर क्यों जायें ? कांग्रेस की अहिंसा की नीति के बावजूद हम अपने देश में एक दूसरे के साथ लड़ रहे हैं। खुद कांग्रेस पर भी अविश्वास किया जा रहा है। जबतक कांग्रेस या उसके जैसा कोई और गिरोह सबल लोगों की अहिंसा पेश न करे, दुनिया में इसका संचार हो नहीं सकता। स्पेन और चीन को जो मदद हिन्दुस्तान ने दी वह केवल नैतिक थी

माली सहायता तो उसका एक छोटा-सा रूप था। इन दोनों मुल्कों के लिए जो अपनी आजादी रातोंरात खो बैठे, शायद ही 'कोई हिन्दुस्तानी हो जिसे उतनी हमदर्दी न हो। यद्यपि स्पेन और चीन से उनका मामला जुदा है। उनका नाश चीन और स्पेन के मुकाबिले मे शायद ज्यादा मुकम्मिल है। दरअसल तो चीन और स्पेन के मामले मे भी खास फर्क है लेकिन जहाँतक हमदर्दी का सवाल है उनमे कोई अन्तर नही आता है। बेचारे हिन्दुस्तान के पास इन मुल्कों को भेजने के लिए सिवा अहिंसा के और कुछ नही है। लेकिन जैसा कि मै कह चुका हूँ, यह अभी तक भेजने के लायक चीज नही हुई है, वह ऐसी तब होगी, जब कि हिन्दुस्तान अहिंसा के जरिये आजादी हासिल कर लेगा।

अब रहा ब्रिटेन का मसला। कांग्रेस ने उसे कोई परेशानी में नहीं डाला है। मै यह घोषित कर चुका हूँ कि मैं कोई ऐसा काम नही करूँगा जिससे उसे कोई परेशानी हो। अंग्रेज परेशान होंगे, अगर हिन्दुस्तान मे अराजकता होगी। कांग्रेस जबतक मेरी बात मानेगी तबतक इसका समर्थन नही करेगी।

कांग्रेस जो नहीं कर सकती वह यह है कि अपना नैतिक प्रभाव ब्रिटेन के पक्ष मे नहीं डाल सकती। नैतिक प्रभाव मशीन की तरह कभी नही दिया जा सकता। उसे लेना न लेना ब्रिटेन के ऊपर निर्भर करता है। शायद ब्रिटेन के राजनेता सोचते हैं कि ऐसा कौन नैतिक बल है जो कांग्रेस दे सकती है।

उनको नैतिक बल की दरकार ही नहीं। शायद वह यह भी

सोचते हैं कि इस लड़ाई मे फँसी हुई इस दुनिया मे उन्हे किसी चीज की जरूरत है तो वह माली सहायता है। अगर ऐसा वे सोचते है, तो ज्यादा गलती भी नहीं करते । यह ठीक ही है, क्योंकि लडाई में नीति नाजायज़ होती है। यह कहकर कि ब्रिटेन का हृदय-परिवर्तन करने मे सफलता की सभावना नही है लेखक ने ब्रिटेन के पक्ष मे सारा मामला हार दिया। मै ब्रिटेन की बुराई नहीं चाहता। मुझे दु ख होगा, अगर उसकी हार हो। लेकिन जबतक वह हिन्दुस्तान का कब्जा न छोडे, काग्रेस का नैतिक बल ब्रिटेन के काम नहीं आ सकता। नैतिक प्रभाव तो अपनी अपरिवर्तित शर्त पर ही काम करता है।

जब मैंने खेडा मे भर्ती की थी, तब की और आज की मेरी वृत्ति मे मेरे मित्र को कोई फर्क नजर नहीं आता। पिछली लडाई मे नैतिक प्रश्न नही उठाया गया था। कांग्रेस ने अहिंसा की प्रतिज्ञा उस वक्त नही ली थी। जो नैतिक प्रभाव उसका आम जनता पर आज है वह तब नहीं था। मै जो करता था, निजी तौर से करता था, मै लड़ाई की कान्फ्रेंस मे भी शरीक हुआ था, और वादा पूरा करने के लिए, अपनी सेहत को भी खतरे में डालकर, मै भर्ती करता रहा। मैंने लोगों से कहा कि अगर उन्हे हथियारों की जरूरत हो, तो फौजी नौकरी के जरिये उन्हे जरूर प्राप्त कर सकते है। लेकिन अगर वह मेरी भाँति अहिंसक हों, तो मेरी भर्ती की अपील उनके लिए नहीं थी। जहाँतक मै जानता था, मेरे दर्शकों मे एक भी आदमी अहिंसा को माननेवाला नहीं

था। उनकी भर्ती होने की अनिच्छा का कारण यह था कि उनके दिलों में ब्रिटेन के लिए वैरभाव था। लेकिन ब्रिटेन की हुकूमत को खत्म करने का एक जाग्रत निश्चय धीरे-धीरे इस वैरभाव का स्थान ले रहा था।

तब से हालात बदल चुके हैं। पिछली लड़ाई में हिन्दुस्तान की ओर से सार्वजनिक सहायता मिलने के बावजूद भी, ब्रिटेन की वृत्ति रौलट एक्ट और ऐसे ही रूपों में प्रगट हुई। अंग्रेज-रूपी खतरे का मुकाबिला करने के लिए कांग्रेस ने असहयोग को स्वीकार किया। जलियाँवाला बाग, साईमन कमीशन, गोल-मेज कान्फ्रेंस और थोड़े-से लोगों की शरारत के लिए बंगाल को कुचलना, यह सब बातें उसकी यादगार हैं।

जबकि कांग्रेस ने अहिंसा की नीति को स्वीकार कर लिया है, मेरे लिए आवश्यक नहीं कि मैं भर्ती के लिए लोगों के पास जाऊँ। कांग्रेस के जरिये मैं थोड़े से रंगरूटों की अपेक्षा बहुत ही बेहतर सहायता दे सकता हूँ। लेकिन यह जाहिर है कि ब्रिटेन को उसकी जरूरत नहीं है। मैं तो चाहता हूँ पर लाचार हूँ।

'हरिजन-सेवक' ४ मई, १९४०

: १० :

हमारा कर्तव्य

"नाजी जर्मनी द्वारा किये जानेवाले इधर के और भी क्रूरता-पूर्ण हमलों का ख़याल रखते हुए और इस वाकये को आँखो के सामने रखते हुए कि ब्रिटेन आज मुसीबत मे पड गया है और चारो ओर आपदाओं से घिरा हुआ है। क्या अहिंसा का यह तकाजा नही है कि हम उससे कह दें कि यद्यपि हम अपनी स्थिति से जरा भी नही हट रहे हैं और जहाँतक उसके साथ हमारे ताल्लुकात और हमारे भविष्य का सम्बन्ध है हम अपनी माँग में तिल भर कमी न करेंगे। फिर भी मुसीबतो से घिरे होने की हालत मे उसे तग या व्यग्र करने की हमारी इच्छा नहीं है। इसलिए फिलहाल सत्याग्रह-आन्दोलन के विषय मे सारे खयालात और सब तरह की बातें हम निश्चित रूप से मुल्तवी कर देते हैं? आज नाजीवाद स्पष्टत जैसे प्रभुत्व के लिए उठ रहा है, क्या हमारा मन उसकी कल्पना के खिलाफ़ विद्रोह नहीं करता है? क्या मानवीय सभ्यता का सम्पूर्ण भविष्य खतरे मे नहीं है? यह ठीक है कि विदेशी शासन से अपने को स्वतन्त्र करना भी हमारे लिए जिन्दगी और मौत का ही सवाल

है। लेकिन जब ब्रिटेन एक ऐसे आक्रमणकारी के मुक़ाबले खड़ा है, जो निश्चितरूप से जंगली उपायों का इस्तेमाल कर रहा है, तब क्या हमें ऐसी समयोचित और मानवीय भाव-भंगी न ग्रहण करनी चाहिए जो अन्त में हमारे विरोधी के दल को जीत ले? फिर अगर इसका उसपर कुछ असर न हो और इज्जत आबरू के साथ कोई समझौता नामुमकिन ही बना रहे, तो भी क्या हमारे लिए यह एक ज्यादा ऊँची और श्रेष्ठ बात न होगी कि हम अहिंसात्मक युद्ध तब छेड़ें, जब वह (ब्रिटेन) आज की तरह चारों तरफ से मुसीबतों से घिरा न हो? क्या इसके लिए हमें अपने अन्दर और ज्यादा ताक़त की जरूरत न पड़ेगी? और चूंकि ज्यादा ताकत की जरूरत पड़ेगी, इसलिए क्या इसका अर्थ अधिक और ज्यादा टिकाऊ लाभ नहीं होगा और क्या यह आपस में सिर फोड़नेवाली दुनिया के लिए एक ऊँचा उदाहरण नहीं होगा? क्या यह इस बात का भी प्रमाण नहीं होगा कि अहिंसा प्रधानतया बलवानों का अस्त्र है?"

नार्वे के पतन के बाद कई पत्र लेखकों के जो पत्र मुझे प्राप्त हुए हैं उनकी भावना इस पत्र में कदाचित ठीक-ठीक ज़ाहिर हुई है। यह इन पत्र-लेखकों के दिलों की शराफत का सबूत है। पर इसमें वस्तुस्थिति के प्रति ठीक समझ का अभाव है। इन पत्रों में ब्रिटिश प्रकृति का खयाल नहीं किया गया है। ब्रिटिश जाति को गुलाम जाति की हमदर्दी की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि वह इस गुलाम जाति से जो कुछ चाहे ले सकती है। वह वीर और स्वाभिमानी जाति है। नार्वे जैसी एक नहीं अनेक विघ्न-बाधाओं

से भी वे लोग पस्तहिम्मत होने वाले नहीं है। अपने आगे आने-वाली किसी भी दिक्कत का सामना करने मे वे भली भाँति समर्थ हैं। युद्ध मे भारत को किस तरह क्या हिस्सा लेना है इस बारे मे उसको खुद कुछ कहने का हक नहीं है। उसे तो ब्रिटिश मन्त्रिमडल की इच्छामात्र से इस युद्ध मे घसीटना पडा है। उसके साधनों का ब्रिटिश मन्त्रिमडल की इच्छानुसार इस्तेमाल किया जा रहा है। हम शिकायत नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान एक पराधीन देश है और ब्रिटेन इस पराधीन देश को उसी तरह दुहता रहेगा जिस तरह कि अतीत काल मे दुहता रहा है। ऐसी स्थिति मे काग्रेस क्या भाव-भगी, क्या रुख इख्तियार कर सकती है ? उसके वश मे जो सबसे ऊँची भाव-भगी थी, उसे वह अब भी ग्रहण किये हुए है। वह देश मे कोई फिसाद खड़ा नहीं करती है। खुद अपनी ही नीति के कारण वह इससे बच रही है। मैं कह चुका हूँ और फिर दोहराता हूँ कि मैं हठवश ब्रिटेन को तग करने के लिए कोई काम नहीं करूँगा। ऐसा करना सत्याग्रह की मेरी धारणा के प्रतिकूल होगा। इसके आगे जाना काग्रेस की ताकत के बाहर है।

निस्सन्देह, काग्रेस का फर्ज है कि स्वतन्त्रता की अपनी माँग का अनुसरण करे और अपनी शक्ति की पूरी सीमा तक सत्याग्रह की तैयारी जारी रखे। इस तैयारी की खासियत का मान करना चाहिये। खादी, ग्रामोद्योगों और साम्प्रदायिक एकता को बढ़ाना अस्पृश्यता का निवारण, मादकद्रव्य-निषेध तथा इस उद्देश्य से

कांग्रेस-सदस्य बनाना और उनको ट्रेनिंग देना। क्या इस तैयारी को मुल्तवी कर देना चाहिए? मैं तो कहूँगा कि अगर कांग्रेस सचमुच अहिंसात्मक बन गई और अहिंसा की नीति के पालन मे उसने ऊपर बताये हुए रचनात्मक कार्यक्रम को सफलता पूर्वक निभा लिया, तो निस्सन्देह वह स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकेगी। तभी हिन्दुस्तान के लिए अवसर होगा कि वह एक स्वतन्त्र राष्ट्र की हैसियत से यह फैसला करे कि उसे ब्रिटेन को कौन सी मदद किस तरह देनी चाहिए?

जहाँतक मित्रराष्ट्रों का हेतु ससार के लिए शुभ है तहाँतक उसमे कांग्रेस की देन यह है कि वह अहिंसा और सत्य का असली तौर पर पालन कर रही है और बिना कमी व विलम्ब किये पूर्ण स्वतन्त्रता के अपने ध्येय का अनुसरण कर रही है।

कांग्रेस की स्थिति की परीक्षा करने और उसकी न्यायता को स्वीकार करने से आग्रहपूर्वक इन्कार करके और गलत सवाल खड़े करके ब्रिटेन असल मे खुद अपने ही हेतु को नुकसान पहुँचा रहा है। मैने जिस तरह की विधान-परिषद का प्रस्ताव किया है उसमे एक के अलावा और सब दिक्कतें हल हो जाती है—बशर्ते कि इस एक को भी दिक्कत मान लिया जाये। इस परिषद मे हिन्दुस्तान के भाग्य-निर्णय मे ब्रिटिश हस्तक्षेप के लिए अलबत्ता कोई गुंजाइश नही है। अगर इसे एक दिक्कत की शक्ल मे पेश किया जाये, तो कांग्रेस को तबतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जबतक यह न मान लिया जाये कि यह न सिर्फ कोई दिक्कत नहीं

है बल्कि यह कि आत्म-निर्णय हिंदुस्तान का निर्विवाद अधिकार है।

अच्छा होगा कि इस बारे में एक-न-एक बहाना खडा करके सत्याग्रह की घोषणा करने में मेरी अनिच्छा का दोषारोपण करते हुए जो पत्र मुझे मिले हैं उनका भी जिक्र मैं कर दूँ। इन मित्रों को जान लेना चाहिए कि अहिंसा-अस्त्र के सफल प्रदर्शन के लिए मैं उनसे ज्यादा चिंतित हूँ। इस शोध के अनुगमन में मैं ऐसा लगा हूँ कि अपने को एक पल का विश्राम नहीं दे रहा हूँ। निरन्तर मैं प्रकाश के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ। लेकिन बाहरी दबाव के कारण मैं सत्याग्रह छेडने में जल्दबाजी नहीं कर सकता—ठीक वैसे, जैसे कि बाहरी दबाव के कारण मैं उसको छोड़ नहीं सकता। मैं जानता हूँ कि यह मेरी सबसे बडी कसौटी की घड़ी है। यह दर्शाने के लिए मेरे पास बहुत ज्यादा सबूत है कि बहुतेरे कांग्रेसकर्मियों के हृदय में काफी हिंसा भरी है और उनमें स्वार्थ की मात्रा भी बहुत ज्यादा है। अगर कांग्रेस-कार्यकर्ता अहिंसा की सच्ची भावना से ओत-प्रोत होते, तो स्वतन्त्रता हमें १९२१ ई० में ही मिल गई होती और हमारा इतिहास आज कुछ दूसरा ही लिखा गया होता। लेकिन मुझे शिकायत नहीं करनी चाहिए। जो औजार मेरे पास हैं उन्हींसे मुझे काम करना है। मैं इतना ही चाहता हूँ कि कांग्रेसी लोग मेरी ऊपर से दीख पड़नेवाली अक्रियता का कारण जान लें।

'हरिजन-सेवक', २० मई, १९४०

: ११ :

आतंक

आजकल अखबारों मे आतंक के बारे मे कई समाचार पढने को मिलते हैं और इससे भी ज्यादा बातें सुनाई पडती हैं। एक मित्र लिखते हैं—

"एकान्त सेवाग्राम मे बैठे हुए आप उन बातो और फुसफुसाहटो—अफवाहो की कल्पना भी नही कर सकते जो व्यस्त नगरों मे फैल रही हैं। लोगों पर आतक या भय छा गया है!

आतक सबसे ज्यादा नि सत्त्व करनेवाली अवस्था है जिसमें कोई हो सकता है। आतक की तो यहाँ कोई वजह ही नही है। चाहे जो कुछ गुजरे, आदमी को अपना दिल मजबूत रखना चाहिए। लडाई एक निरी बुराई है। लेकिन उससे एक अच्छी बात जरूर होती है। यह भय को दूर कर देती है और बहादुरी को ऊपर लाती है। मित्र-राष्ट्रों और जर्मनों दोनों के बीच अब तक लाखों की जानें गई होंगी। ये लोग पानी की तरह खून बहा रहे हैं। फ्रास और ब्रिटेन मे बूढे आदमी, बूढ़ी और जवान स्त्रियाँ और बच्चे मौत के बीचोंबीच रह रहे हैं। फिर भी वहाँ

कोई आतक नही है। अगर वे आतक या भय से अभिभूत हो जायें, तो यह उनके लिए जर्मन गोलियों, गोलों और जह-रीली गैसों से कहीं भयकर शत्रु बन जायेगा। हमे इन कष्ट सहने-वाले पश्चिमी देशों से शिक्षा लेनी चाहिए और अपने बीच से आतक को निकाल बाहर कर देना चाहिए। फिर हिन्दुस्तान मे तो आतक के लिए कोई वजह ही नहीं है। अगर ब्रिटेन को मरना भी पड़ा तो वह कठिनाई से और बहादुरी के साथ मरेगा। हम हार के समाचार सुन सकते हैं, पर हमे पस्तहिम्मती की बात कभी सुनाई न पड़ेगी। जो कुछ घटित होगा, व्यवस्थापूर्वक घटित होगा।

इसलिए जो लोग मेरी बात पर कान देते हैं उनसे मैं कहूँगा कि सदा की तरह अपना रोजगार या काम करते जाओ। जमा की हुई रकमों को मत निकालो, न नोटों को नकदी मे बदलने की जल्दबाजी करो। अगर तुम सावधान हो तो तुम्हे कोई नया खतरा न उठाना पडेगा। अगर हममें विप्लव उठ खड़ा हो तो जमीन मे गड़े हुए या तिजोरियों मे रखे हुए धन को बैंक या कागज की बनिस्बत ज्यादा सुरक्षित न समझना चाहिए। वैसे तो इस वक्त हर चीज में खतरा है। ऐसी हालत मे तुम जैसे हो वैसे बने रहना ही सबसे अच्छा है। तुम्हारा धीरज, अगर ज्यादा लोग उसका अनुसरण करे, बाजार मे स्थिरता लायेगा। अराजकता के खिलाफ वह सबसे बडा प्रतिबन्ध होगा। इसमे शक नही कि ऐसे वक्त में गुण्डई का डर रहता है। पर इसका मुकाबला करने

के लिए तुम्हें खुद तैयार रहना चाहिए। गुण्डे सिर्फ बुजदिल लोगों के बीच पनप सकते है। पर जो लोग हिसात्मक या अहिसात्मक रूप से अपनी रक्षा करने के लायक है उनसे उनको कोई रियायत नही मिल सकती। अहिसात्मक आत्म-रक्षण मे अपने जान-माल के बारे मे साहसिकता की वृत्ति होती है। अगर उसपर दृढ रहा जाये तो तो अन्त मे वह गुण्डई का निश्चित इलाज साबित होगा। लेकिन अहिसा एक दिन में तो सीखी नही जा मकती। इसके लिए अभ्यास और आचरण की जरूरत है। आप अभी से इसे सीखना शुरू कर कसते है। अपको अपनी जान या माल या दोनों को कुर्बान करने को तैयार होना चाहिए। अगर हिसात्मक या अहिसात्मक किसी तरह से अपनी रक्षा करना आप नहीं जानते तो अपनी सारी कोशिशों के बावजूद सरकार आपको बचाने मे समर्थ न होगी। चाहे कोई सरकार कितनी ही ताकतवर हो, जनता की मदद के बिना इसे नही कर सकती। अगर ईश्वर भी सिर्फ उन्हीकी मदद करता है जो खुद अपनी मदद करते है, तो नाशमान सरकारों के सम्बन्ध मे यह बात कितनी सत्य होगी। हिम्मत मत हारो और यह मत सोचो कि कल कोई सरकार न होगी और अराजकता-ही अराजकता रह जायेगी। आप खुद अभी सरकार बन सकते है और जिस आफत की आप कल्पना करते है उसमे तो आपको सरकार बनना ही पडेगा। नही तो आप नष्ट हो जायेंगे।

'हरिजन-सेवक' ८ जून, १९४०

: १२ :

हिटलरशाही से कैसे पेश आयें ?

हिटलर अन्त में कैसा ही साबित हो, हिटलरशाही का जो अर्थ बन गया है वह हम जानते हैं। इसका अर्थ है बल का नग्न और क्रूर प्रयोग, जिसे ठीक विज्ञान ने घटा दिया गया है और वैज्ञानिक शोध के साथ जिसे काम में लाया जा रहा है। इसका असर लगभग अदम्य होता है।

सत्याग्रह के शुरूआत के दिनों में, जबकि उसे निष्क्रिय प्रतिरोध ही कहा जाता था, जोहान्सबर्ग के 'स्टार' पत्र को शस्त्रास्त्र से खूब सज्जित सरकार के खिलाफ मुट्ठी भर ऐसे भारतीयों को उठते हुए देखकर, जो निशस्त्र ही नहीं बल्कि चाहते तो भी संगठित हिंसा के अनुपयुक्त थे, बड़ा आश्चर्य हुआ। उनपर रहम खाकर उसने एक व्यंग-चित्र छापा, जिसमें सरकार को अदम्य बलसूचक स्टीमरोलर का रूप दिया गया था और निष्क्रिय प्रतिरोध को ऐसे हाथी की शकल दी गयी थी जो अपनी जगह पर आराम के साथ अडिग बैठा हुआ था। उसे अविचलित बल बतलाया गया था। अदम्य और अचल बल के बीच जो द्वन्द्व था

उसकी वारीकी में व्यंग चित्रकार अच्छी तरह पहुँच गया। उस वक्त एक खिंच पडी हुई थी। नतीजा जो हुआ वह हम जानते ही हैं। जिसे अदम्य चित्रित किया गया था उसका सत्याग्रह के अचल वल ने, जिसे हम वदले की भावना के वगैर कष्ट सहना कह सकते हैं, सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया।

उस वक्त जो बात सच साबित हुई वह अब भी उतनी ही सच हो सकती है। हिटलरशाही को हिटलरशाही तरीकों से कभी हराया नहीं जा सकेगा। उससे तो दसगुनी तेज़ या ऊँचे दर्जे की हिटलरशाही का ही पोपण होगा। हमारे सामने जो कुछ हो रहा है वह तो हिंसा और हिटलरशाही की भी निष्फलता का ही प्रदर्शन है।

हिटलरशाही की असफलता से मेरा क्या मतलव है, यह मैं वतला दूँ। इसने छोटे राष्ट्रों को उनकी स्वतंत्रता से वंचित कर दिया है। इसने फ्रांस को शांति-प्रार्थना करने के लिए वाध्य किया है। जब यह लेख छपेगा, उस वक्त तक शायद ब्रिटेन को भी अपने सम्बन्ध में कुछ निश्चय कर लेना पड़े। मेरी दलील के लिए तो फ्रांस का पतन ही काफी है। मेरे ख़याल में, जो अनिवार्य था उसके आगे सिर झुकाकर और मूर्खतापूर्ण आपसी कत्लेआम में भागी बनने से इन्कार करके फ्रांसीसी राज-नीतिज्ञों ने असाधारण साहस का परिचय दिया है। अपना सब कुछ खोकर फ्रांस के विजयी बनने का कोई अर्थ नहीं है। स्वतन्त्रता का जिन्हें उपभोग करना है उन सभी का उसे प्राप्त करने

में खात्मा हो जाये तो स्वतन्त्रता-प्राप्ति का वह प्रयत्न उपहास्य हो जाता है। उस हालत में वह महत्त्वाकांक्षा का निन्दनीय सतोप वन जाता है। फ्रांसीसी सैनिकों की वीरता विश्वविख्यात है। लेकिन शांति का प्रस्ताव रखने मे फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों ने उससे भी वड़ी जो वहादुरी वतलाई है उसे भी दुनिया को जान लेना चाहिए। मेरे खयाल मे फ्रासीसी राजनीतिज्ञों ने यह मार्ग सच्चे सैनिकों को शोभा देनेलायक पूरे समानपूर्ण तरीके से ग्रहण किया है। इसलिए मुझे आशा करनी चाहिए कि हेर हिटलर इसके लिए कोई अपमानपूर्ण शर्तें न लगाकर यह दिखलायेंगे कि हालाँकि वह लड निर्दयता के साथ सकते हैं मगर कम-से-कम शान्ति के लिए वह दयाहीनता से काम नहीं ले सकते।

अव हम फिर अपनी दलील पर आयें। विजय प्राप्त कर लेने पर हिटलर क्या करेंगे ? क्या इतनी सारी सत्ता को वह पचा सकते हैं ? व्यक्तिगत रूप मे तो वह भी उसी तरह खाली हाथ इस दुनिया से जायेंगे जैसे कि सिकन्दर गये थे जो उनके वहुत प्राचीन पूर्ववर्ती नहीं हैं। जर्मनों के लिए वह एक शक्तिशाली साम्राज्य की मालिकी का आनन्द नहीं वल्कि टूटते हुए साम्राज्य को सँभालने का भारी वोझ छोड़ जायेंगे, क्योंकि सव जीते हुए राष्ट्रों को वे सदा-सर्वदा पराधीन नहीं वनाये रख सकते, और इस वात में भी मुझे सन्देह है कि भावी पीढ़ी के जर्मन उन कामों मे शुद्ध गर्वानुभव करेंगे जिनके लिए कि वे हिटलरशाही को जिम्मेदार ठहरायेंगे। हिटलर की इज्जत वे प्रतिभाशाली, वीर,

अनुपम सगठन-कर्त्ता आदि के रूप मे जरूर करेंगे। लेकिन मुझे आशा करनी चाहिए कि भविष्य के जर्मन अपने महापुरुषों के बारे मे भी विवेक से काम लेने की कला सीख जायेंगे। कुछ भी हो, मेरे खयाल में यह तो मानना ही होगा कि हिटलरने जो मानव-रक्त बहाया है उससे ससार की नैतिकता मे अणुमात्र भी वृद्धि नहीं हुई है।

इसके प्रतिकूल, आज के यूरोप की हालत की जरा कल्पना तो कीजिए। चेक, पोल, नार्वेवासी, फ्रासीसी और अँग्रेज सब ने अगर हिटलर से यह कहा होता तो कितना अच्छा होता कि 'विनाश के लिए आपको अपनी वैज्ञानिक तैयारी करने की जरूरत नही है। आपकी हिसा का हम अहिंसा से मुकाबिला करेंगे। इसलिए टैंकों, जगी जहाजों और हवाई जहाजों के बगैर ही आप हमारी अहिंसात्मक सेना को नष्ट कर सकेंगे।

इसपर यह कहा जा सकता है कि इसमे फर्क सिर्फ यही रहेगा कि हिटलर ने खूनी लडाई के बाद जो कुछ पाया है वह उसे लडाई के बगैर ही मिल जाता। बिलकुल ठीक। लेकिन यूरोप का इतिहास तब बिलकुल जुदे रूप मे लिखा जाता। अब जिस तरह अकथनीय बर्बरताओं के बाद कब्जा किया गया है तब शायद (लेकिन सिर्फ शायद ही) अहिसात्मक प्रतिरोध मे ऐसा किया जाता। लेकिन अहिसात्मक प्रतिरोध मे सिर्फ वही मारे जाते जिन्होंने जरूरत पडने पर अपने मारे जाने की तैयारी कर ली होती और वे किसी को मारें व किसीके प्रति कोई दुर्भाव

रखे विना मरते। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि उस हालत मे यूरोप ने अपनी नैतिकता को काफी बढ़ा लिया होता और अन्त मे, मेरा खयाल है, नैतिकता का ही शुमार होता है। और सब व्यर्थ है।

यह सब मैंने यूरोप के राष्ट्रों के लिए लिखा है। लेकिन हमारे ऊपर भी यह लागू होता है।' अगर मेरी दलील समझ मे आ जाये, तो क्या हमारे लिए यह समय ऐसा नही है कि हम बलवानों की अहिसा में अपने निश्चित विश्वास की घोषणा करके यह कहें कि हम हथियारों की ताकत से नहीं बल्कि अहिंसा की ताकत से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना चाहते है ?

'हरिजन-सेवक' : २२ जून, १६४०

: १३ :

हरेक अंग्रेज़ के प्रति

१८९६ मे मैने दक्षिण अफ्रीका मे अंग्रेजों के नाम एक अपील निकाली थी। वह अपील वहॉ के मजदूरों और व्यापारी-वर्ग के हिन्दुस्तानियों की खातिर निकाली थी। उसका असर भी हुआ था। उस अपील का हेतु कितने ही महत्त्व का क्यों न रहा हो, मगर मेरी नजर मे आज की इस अपील के हेतु के सामने वह तुच्छ था। मेरी हरेक अग्रेज से—चाहे वह दुनिया के किसी भी हिस्से मे हो—यह प्रार्थना है कि वह राष्ट्रों के परस्पर के ताल्लुकात और दूसरे मामलों का फैसला करने के लिए युद्ध का मार्ग छोड़कर अहिसा का मार्ग स्वीकार करें। आपके राज-नेताओं ने यह घोषणा की है कि यह युद्ध प्रजातन्त्र के असूल की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है। युद्ध की न्याययुक्तता सिद्ध करने के लिए और भी बहुत-से ऐसे कारण दिये गये है। आप वह सब अच्छी तरह जानते है।

मैं आपसे यह कहता हूॅ कि इस युद्ध के समाप्त होने पर जीत चाहे किसी भी पक्ष की हो, प्रजातन्त्र का कहीं नामोनिशान भी

नहीं मिलेगा। यह युद्ध मनुष्यजाति पर एक अभिशाप और चेतावनी के रूप मे उतरा है। यह युद्ध शापरूप है, क्योंकि आज तक कभी इन्सान इन्सानियत को इस कदर नहीं भूला था, जितना कि वह इस युद्ध के असर के नीचे भूल रहा है। लड़नेवालों मे आज फर्क ही नहीं किया जाता, कोई भी इन्सान या कोई भी चीज नहीं छोड़ी जाती। झूठ बोलने को एक कला बना दिया गया है। ब्रिटेन छोटे-छोटे राष्ट्रों की रक्षा करनेवाला कहा जाता था, पर एक-एक करके कम-से-कम आज तो वे सब राष्ट्र गायब हो चुके हैं। यह युद्ध एक चेतावनीरूप भी है। अगर लोग कुदरत की इस चेतावनी से जाग्रत न हुए, तो इन्सान बिल्कुल हैवान बन जायेगा। सच तो यह है कि आज इसान की करतूतें हैवान को भी शर्मिंदा कर रही हैं। मैं कुदरत की इस चेतावनी का अर्थ युद्ध छिड़ते ही समझ गया था। मगर मेरी यह हिम्मत नहीं थी कि मैं आपसे कुछ कहूँ, किंतु आज ईश्वर ने मुझे हिम्मत दे दी है और मौका भी अभी हाथ से नहीं निकल गया है।

मेरी दरख्वास्त है कि युद्ध बन्द किया जाये। इसलिए नहीं कि आप लोग लडने से थक गये हैं, बल्कि इसलिए कि युद्ध दरअसल बुरी चीज है। आपलोग नाजीवाद का नाश करना चाहते हैं, मगर आप नाजीवाद की कच्ची-पक्की नकल करके नाजीवाद का कभी नाश नहीं कर सकेंगे। आपके सिपाही भी आज जर्मन सिपाहियों की ही तरह सर्वनाश करने मे लगे हुए हैं। फर्क सिर्फ इतना ही है कि शायद आपके सिपाही इतनी सम्पूर्णता से

तबाही का काम नहीं करते, जितना कि जर्मन सिपाही। अगर यह सही है, तो शीघ्र ही, जर्मन सिपाहियों से ज्यादा नहीं तो उतनी ही सम्पूर्णता को आप लोग प्राप्त कर लेंगे। और किसी शर्त पर आप युद्ध में जीत नही सकते। दूसरे शब्दों मे, आप लोगों को नाजियों से अधिक निर्दय बनना होगा। कोई भी हेतु, चाहे वह कितना ही न्याययुक्त क्यों न हो, आज प्रतिक्षण जो अन्धाधुन्ध कत्लेआम हो रहा है, उसे जायज नहीं ठहराया जा सकता। मै आपसे कहता हूँ कि यदि किसी हेतु से जिस तरह के जुल्म ढाये जा रहे हैं उनकी जरूरत पड़ती है, तो वह कभी न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता।

मै नहीं चाहता कि ब्रिटेन हारे। मगर मै यह भी नही चाहता कि वह पाशविक बल की परीक्षा मे जीते, भले ही वह पशुबल बाहुबल के रूप में प्रदर्शित किया जाये या बुद्धिबल के रूप मे। आपका बाहुबल तो जगत्-प्रसिद्ध है। क्या आपको यह प्रदर्शन करने की जरूरत है कि आपका बुद्धिबल भी तबाही करने मे सबसे ज्यादा शक्तिशाली है? मुझे आशा है कि आप लोग नाजियों के साथ इस किस्म के मुकाबले मे उतरना अपनी बेइज्जती समझेंगे। मै आप लोगों के सामने एक बहुत ज्यादा बहादुरी और बहुत ज्यादा शराफत का तरीका रखता हूँ। यह तरीका बहादुर-से-बहादुर सिपाही की शान के लायक है। मैं चाहता हूँ कि आप नाजियों का सामना बिना हथियारों के करें, या फौजी भाषा मे कहा जाये तो अहिंसा के हथियार से मुकाबला

करें। मैं चाहता हूं कि आप अपनी और मनुष्यजाति की रक्षा के लिए मौजूदा हथियारों को निकम्मा समझकर फेंक दें। आप हेर हिटलर और सिन्योर मुसोलिनी को बुलायें कि आइए हमारे इस कई खूबसूरत इमारतोंवाले सुन्दर द्वीप पर आप कब्जा कर लीजिए। आप यह सब उन्हें दे देंगे, मगर अपना दिल और आत्मा उन लोगों को हर्गिज नहीं देंगे। ये साहबान आपके घर पर कब्जा करना चाहें, तो आप अपने घरों को खाली कर देंगे। अगर वे लोग आपको बाहर भी न जाने दें, तो आप सब-के-सब मर्द, औरत और बच्चे, कट जायेंगे, मगर उनकी अधीनता स्वीकार नहीं करेंगे। इस तरीके को मैंने अहिंसक असहयोग का नाम दिया है, और हिन्दुस्तान में यह तरीका काफी हदतक सफल भी हुआ है। हिन्दुस्तान में आपके नुमाइन्दे मेरे इस दावे से इन्कार कर सकते हैं। अगर वे ऐसा करेंगे, तो मुझे उनपर दया आयेगी। वे आपसे कह सकते हैं कि हमारा असहयोग पूरी तरह अहिंसात्मक नहीं था, उसकी जड़ में द्वेष था। अगर वे लोग यह गवाही देंगे, तो मैं इससे इन्कार नहीं करूंगा। अगर हमारा असहयोग पूरी तरह हिंसात्मक रहता, अगर तमाम असहयोगियों के मन में आपके प्रति प्रेम भरा रहता, तो मैं दावे से कहता हूँ कि आप लोग जिस हिन्दुस्तान के आज स्वामी हैं, उसके शिष्य होते, आप हम लोगों की अपेक्षा बहुत ज्यादा कुशलता से इस हथियार को सम्पूर्ण बनाते और जर्मनी, इटली और उनके साथियों का इसके द्वारा सामना करते। तब यूरोप का

पिछले चन्द महीने का इतिहास दूसरी ही तरह लिखा गया होता। यूरोप की भूमि पर निर्दोष रक्त की नदियाँ न बहतीं, इतने छोटे-छोटे राष्ट्रों की हत्या न होती और द्वेष से यूरोप के लोग आज अन्धे न बन जाते। यह एक ऐसे आदमी की अपील है, जो अपने काम को अच्छी तरह जानता है। मैं पचास वर्ष से लगातार एक वैज्ञानिक की बारीकी से अहिंसा के प्रयोग और उसकी छिपी हुई शक्तियों को शोधने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मैंने जीवन के हरेक क्षेत्र मे अहिंसा का प्रयोग किया है। घर मे, संस्थाओं मे, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र मे, एक भी ऐसे मौके का मुझे स्मरण नहीं है कि जहाँ अहिंसा निष्फल हुई हो। जहाँपर कभी निष्फलता-सी देखने मे आई, मैंने उसका कारण अपनी अपूर्णता को समझा है। मैंने अपने लिए कभी सम्पूर्णता का दावा नहीं किया। मगर मै यह दावा करता हूँ कि मुझे सत्य, जिसका दूसरा नाम ईश्वर है, के शोध की लगन लगी रही है। इस शोध के सिलसिले में अहिंसा मेरे हाथ आई। इसका प्रचार मेरे जीवन का उद्देश्य है। मुझे अगर जिन्दा रहने मे कोई रस है, तो वह सिर्फ इस उद्देश को पूरा करने के लिए ही है।

मैं दावा करता हूँ कि मै ब्रिटेन का आजीवन और निःस्वार्थ मित्र रहा हूँ। एक वक्त ऐसा था कि मै आपके साम्राज्य पर भी मुग्ध था। मैं समझता था कि आपका राज्य हिन्दुस्तान को फायदा पहुँचा रहा है। मगर जब मैंने देखा कि वस्तु-स्थिति तो दूसरी ही है, इस रास्ते से हिन्दुस्तान का भला नहीं हो सकता,

तब मैंने अहिंसक तरीके से साम्राज्यवाद का सामना करना शुरू किया और आज भी कर रहा हूँ। मेरे देश की किस्मत में आखिर कुछ भी लिखा हो, आप लोगों के प्रति मेरा प्रेम वैसा ही कायम है और रहेगा। मेरी अहिंसा सारे जगत् के प्रति प्रेम माँगती है और आप उस जगत् का कोई छोटा हिस्सा नहीं है। आप लोगों के प्रति मेरे इस प्रेम ने ही मुझ से यह निवेदन लिखवाया है। ईश्वर मेरे एक-एक शब्द को शक्ति दे। उसीके नाम से मैंने यह लिखना शुरू किया था और उसी के नाम से बन्द करता हूँ। ईश्वर आपके राजनेताओं को समझ और हिम्मत दे कि वे मेरी प्रार्थना का उचित प्रतिफल दे सकें। मैंने वाइसराय साहब से कहा है कि अगर ब्रिटिश सरकार को ऐसा लगे कि मेरी इस अपील के हेतु को आगे बढ़ाने के लिए मेरी मदद उन्हे उपयोगी होगी, तो मेरी सेवायें उनके आगे हाजिर हैं।

'हरिजन सेवक' • १३ जुलाई १६४०

: १४ :

मुझे पश्चात्ताप नहीं है

हरेक अंग्रेज के प्रति वह निवेदन लिखकर मैंने एक और बोझ अपने सिर पर ले लिया है। बिना ईश्वर की मदद के मैं इसे उठाने के लायक नहीं हूँ। अगर उसकी इच्छा होगी कि मैं इसे उठाऊँ, तो वह उठाने की मुझे शक्ति भी देगा।

मैंने अपने लेख जब अधिकतर गुजराती में ही लिखने का निश्चय किया, तब मुझे यह पता नहीं था कि मुझे वह निवेदन लिखना होगा। उसे लिखने का विचार तो एकाएक ही उठा, और उसके साथ-ही उसे लिखने की हिम्मत भी आ गई। कई अंग्रेज और अमेरिकन मित्र बहुत दिनों से आग्रह कर रहे थे कि मैं उनको रास्ता बताऊँ, पर मैं उनके आग्रह के वश नहीं हुआ था। मुझे कुछ सूझता नहीं था। मगर वह निवेदन लिखने के बाद, अब मुझे उसकी जो प्रतिक्रिया हो रही है उसका पीछा करना ही चाहिए। अनेक लोग मुझे इस सम्बन्ध में पत्र लिख रहे हैं। सिवाय एक गुस्से से भरे तार के, अंग्रेजों ने उस निवेदन की मित्रभाव से ही आलोचना की है, और कुछ अंग्रेजों ने तो

उसकी कद्र भी की है।

वायसराय साहब ने मेरी तजवीज ब्रिटिश सरकार के सामने रखी, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। इस बारे मे जो पत्र-व्यवहार हुआ है, वह या तो पाठकों ने देख लिया होगा, या इस अङ्क मे देखेंगे। यद्यपि मेरे निवेदन के इससे बेहतर उत्तर की ब्रिटिश सरकार से आशा नहीं की जा सकती थी, तो भी मैं इतना कह दूँ, कि ब्रिटिश सरकार के विजय पाने तक लडते जाने के निश्चय के ज्ञान ने ही मुझसे यह निवेदन लिखाया था। इसमें शक नहीं कि यह निश्चय स्वाभाविक है, और सर्वोत्तम ब्रिटिश परम्परा के योग्य भी है। मगर इस निश्चय के अन्दर भयंकर हत्याकांड निहित है। इस चीज के जानते हुए लोगों को अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए कोई बेहतर और ज्यादा वीरतापूर्ण रास्ता ढूँढ़ना चाहिए, क्योंकि शान्ति की विजय युद्ध की विजय से अधिक प्रभावशाली होती है। अंग्रेज अहिंसक रास्ता अख्त्यार करते, तो इसका अर्थ यह नहीं था कि वह चुपचाप निन्दनीय तरीके से जर्मनी के सामने झुक जाते। अहिंसा का तरीका शत्रु को हक्का-बक्का बनाकर रख देता, और युद्ध की सारी आधुनिक कला और चालबाजियों को निकम्मा बना देता। नया विश्व-तन्त्र भी, जिसके कि आज सब स्वप्न देख रहे हैं, इसमे से निकल आता। मैं मानता हूँ कि अन्त तक युद्ध लडकर अथवा दोनों पक्ष अन्त मे थकान के मारे कैसी भी कच्ची-पक्की सुलह करल, उसमें से नया विश्व-तन्त्र पैदा करना असम्भव है।

अब एक मित्र ने अपने पत्र में जो दलीलें पेश की हैं, उनको लेता हूँ :

"दो अंग्रेज़ मित्र जो आपके प्रति बहुत आदर-भाव रखते है, कहते है कि आपके हरेक अंग्रेज के प्रति लिखे निवेदन का आज कोई असर नहीं हो सकता। आम जनता से यह आशा नहीं रखी जा सकती, कि वह एकदम अपना रुख बदल ले, और समझ के साथ ऐसा करे। सच तो यह है कि जबतक अहिंसा में हार्दिक विश्वास न हो, बुद्धि से इस चीज़ को समझना अशक्य है। जगत् को आपके ढाँचे में ढालने का वक्त तो युद्ध के बाद आयेगा। वे समझते हैं कि आपका रास्ता सही रास्ता है, मगर कहते हैं कि उसके लिए बेहद तैयारी की, शिक्षा की और भारी नेतत्व की ज़रूरत है, और उनके पास आज इनमें से ऐसी एक भी चीज़ नहीं है। हिन्दुस्तान के बारे में वह कहते है कि सरकार का ढग शोचनीय है। जिस तरह कैनाडा आजाद है, उसी तरह हिन्दुस्तान को भी बहुत अरसे पहले आजाद कर देना चाहिए था, और हिन्दुस्तान के लोगों को अपना विधान खुद बनाने देना चाहिए। मगर जो बात उनकी समझ में नहीं आती वह है हिन्दुस्तान की आज तुरन्त पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग। दूसरा कदम यह होगा कि ब्रिटेन को लड़ाई में मदद न देना, जर्मनी के सामने झुकना, और फिर अहिंसक तरीके से उसका सामना करना। इस गलतफहमी को दूर करने के लिए आपको अपना अर्थ ज्यादा तफसील से समझाना होगा। यह एक सच्चे आदमी के दिल पर हुआ असर है।"

यह निवेदन आज असर पैदा करने के हेतु से लिखा गया था। वह असर हिसाब करके, तोल-माप के जरिये, पैदा नहीं हो सकता था। अगर दिल में यकीन हो जाता कि मेरा रास्ता सही रास्ता सही रास्ता था, तो उस पर अमल करना आसान था। जनता के मन पर दबाव के वक्त असर होता है। मेरे निवेदन का असर नहीं हुआ, इससे जाहिर होता है कि या तो मेरे शब्दों में शक्ति नहीं, या ईश्वर की ही कुछ ऐसी इच्छा है कि जिसका हमें पता नहीं। यह निवेदन व्यथित हृदय से निकला है। मैं उसे रोक नहीं सकता था। यह निवेदन केवल उसी क्षण के लिए नहीं लिखा गया था। मुझेपूर्ण विश्वास है कि उसमें बताया गया सत्य शाश्वत है।

अगर आज से भूमिका तैयार न की गई, तो युद्ध के अन्त में जब चारों ओर खिन्नता और थकान का वातावरण होगा, नया तन्त्र बनाने का समय ही नहीं रह जायेगा नया तन्त्र जो भी होगा वह जाने-अनजाने आज से हम जो प्रयत्न करेंगे, उसीका परिणाम होगा। दरअसल, प्रयत्न तो मेरा निवेदन निकलनेसे पहले ही शुरू हो चुका था। आशा है कि निवेदन ने उसे उत्तेजन दिया होगा, और एक निश्चित दिशा दिखाई होगी। गैर अधिकारी नेताओं और ब्रिटिश प्रजा का मत ढालने वालों को मेरी सलाह है कि यदि उन्हें यकीन हो गया है कि मेरा रास्ता सही है, तो वे उसे स्वीकार कराने का प्रयत्न करें। मेरे निवेदन ने जो महान प्रश्न उठाया है, उसके सामने हिन्दुस्तान की आजादी का प्रश्न तुच्छ बन जाता है। मगर मैं इन दो अंग्रेज मित्रों के साथ सह

मत हूँ कि ब्रिटिश सरकार का ढग शोचनीय है। लेकिन इन मित्रों ने हिन्दुस्तान की आजादी की कल्पना करके उसके जो नतीजे निकाले है वह सरासर गलत है। वह भूल जाते हैं कि मै इस चित्र से बाहर हूँ जिनके सिर पर कार्य समिति के पिछले प्रस्ताव कि जिम्मेदारी है, उनकी धारणा यही रही है कि स्वतन्त्र हिन्दुस्तान ब्रिटेन के साथ सहयोग करेगा। उनके पास जर्मनी के आगे झुकने या उसका अहिंसक तरीके से सामना करने का तो कोई प्रश्न ही नही उठता।

मगर, यद्यपि विषय दिलचस्प और ललचानेवाला है तो भी मुझे हिन्दुस्तान की। आजादी और उसके फलितार्थों का विचार करने के लिए यहाँ नहीं ठहरना चाहिए।

मेरे सामने इस भाव के पत्र और अखबार की कतरने पडी है कि जब 'कांग्रेस ने हिंसक फौज के जरिये हिन्दुस्तान की रक्षा की तैयारी न करने की आपकी सलाह न मानी, तो आप अंग्रेजों को यह सलाह कैसे दे सकते है और उनसे कैसे आशा रख सकते हैं कि वे इसे स्वीकार करेंगे ?' यह दलील देखने मे ठीक मालूम देती है, मगर सिर्फ देखने मे ही। आलोचक कहते हैं कि जब मै अपने लोगों को ही न समझा सका, तो मुझे यह आशा रखने का कोई हक नही कि आज जीवन और मौत की लडाई के मँझधार पडा ब्रिटेन मेरी बात सुनेगा। मेरा तो जीवन मे एक खास ध्येय है। हिन्दुस्तान की करोडों की जनता ने अंग्रेजों की तरह युद्ध के कडवे स्वाद नही चखे। ब्रिटेन ने जिस मकसद

की दुनिया के सामने घोषणा की थी, अगर उसे हासिल करना है तो उसे अपनी नीति बिलकुल बदल देनी होगी। मुझे ऐसा लगता है कि मै जानता हूँ कि क्या परिवर्तन करने की जरुरत है। जिस विषय की यहाँ चर्चा हो रही है उसमें मेरी कार्य-समिति को न समझा सकने की बात लाना असंगत है। ब्रिटेन और हिन्दुस्तान की परिस्थिति मे कोई साम्य ही नहीं है। इसलिए मुझे वह निवेदन लिखने पर थोडा-सा भी पश्चात्ताप नहीं है। मैं इस बात पर कायम हूँ कि निवेदन लिखने में मैंने ब्रिटेन के एक आजीवन मित्र का काम किया है।

एक लेखक प्रत्युतर मे लिखते है, "हेर हिटलर को अपना निवेदन भेजो न !" पहली बात तो यह है कि मैने हेर हिटलर को भी लिखा था। मेरे पत्र भेजने के कुछ समय बाद वह पत्र अखबारों मे छपा भी था। दूसरी बात यह है कि हेर हिटलर को मेरा अहिंसक रास्ता अख्त्यार करने के लिए कहना कुछ अर्थ नहीं रखता। हेर हिटलर विजय पर-विजय प्राप्त कर रहे हैं। उनसे तो मै यही कह सकता हूँ कि अब बस करो। वह मै कह चुका हूँ। मगर ब्रिटेन आज अपनी रक्षा के लिए लड रहा है। उनके हाथ मे मै अहिंसक असहयोग का सचमुच प्रभावकारी शस्त्र रख सकता हूँ। मेरा रास्ता ठुकराना हो, तो उसके गुण-दोषों का विचार करके ठुकराया जाये, अनुचित तुलनायें करके या लूली-लॅगडी दलीलें दे करके नहीं। मै समझता हूँ कि मैने जो सवाल उठाया है वह सारे ससार के लिए महत्त्वपूर्ण है। अहिंसक

मार्ग की उपयोगिता को सब आलोचक स्वीकार करते हैं। मगर वह खामखाह मान लेते हैं कि मनुष्य का स्वभाव ऐसा बना है कि वह अहिंसक तैयारी का बोझ नहीं उठायेगा। लेकिन यह तो प्रश्न को टालने की बात है। मैं कहता हूँ कि आपने यह तरीका अच्छी तरह आजमाया ही नहीं है। जहांतक आज़माया गया है, परिणाम आशाजनक ही मिला है।

'हरिजन-सेवक' : २७ जुलाई, १९४०

: १५ :

इतना ख़राब तो नहीं !

एक मित्र, एक अंग्रेज़ भाई के पत्र में से निम्नलिखित अंश भेजते हैं :—

"क्या आपको लगता है कि महात्माजी के 'हरेक अंग्रेज के प्रति' निवेदन का एक भी अंग्रेज़ के दिल पर अच्छा असर हुआ होगा ? शायद इस अपील के कारण जितना वैर-भाव बढ़ा है, उतना हाल में किसी दूसरी घटना से नहीं बढ़ा। आजकल हम एक अजीबोगरीब और नाजुक ज़माने में से गुजर रहे हैं। क्या करना चाहिए, यह तय करना बहुत ही कठिन है। कम-से-कम जिस बात में साफ़ खतरा दिखता हो, उससे तो बचना ही चाहिए। जहाँतक मैं देखता हूँ, महात्माजी की शुद्ध अहिंसा की नीति हिन्दुस्तान को अवश्य ही बर्बादी की तरफ़ ले जायेगी। मैं नहीं जानता कि वह खुद कहाँतक इसपर चलेंगे। उनमें अपने-आपको अपनी सामग्री के मुताबिक बनाने की अजीब शक्ति है।"

मैं तो जानता हूँ कि एक नहीं, अनेक हृदयों पर मेरे निवेदन का अच्छा असर हुआ है। मैं यह भी जानता हूँ कि कई अंग्रेज़

मित्र चाहते थे कि मैं कोई ऐसा कदम उठाऊँ। मगर उन्हें मेरी यह बात पसन्द आई है यह मेरे लिए चाहे कितनी ही खुशी की बात क्यों न हो, मैं इसपर सन्तोष मानकर बैठना नहीं चाहता। मेरे पास इन अंग्रेज भाई की टीका की कीमत काफी है। इस ज्ञान से मुझे सावधान होना चाहिए। अपने विचारों को प्रकट करने के लिए शब्दों को और ज्यादा सावधानी से चुनना चाहिए। मगर नाराजगी के डर से, भले ही वह नाराजगी प्रिय-से-प्रिय मित्र की क्यों न हो, जो धर्म मुझे स्पष्ट नजर आता है, उससे मैं हट नहीं सकता। यह निवेदन निकालने का धर्म इतना जबरदस्त और आवश्यक था कि मेरे लिए उसे टालना अशक्य था। मैं यह लेख इस वक्त लिख रहा हूँ—यह बात जितनी निश्चित है, उतनी ही निश्चित यह बात भी है कि जिस ऊँचाई पर पहुँचने का मैंने ब्रिटेन को निमन्त्रण दिया है, किसी न-किसी दिन दुनिया को वहाँ पहुँचना ही है। मेरी श्रद्धा है कि जल्दी ही दुनिया जब इस शुभ दिन को देखेगी, तब हर्ष के साथ वह मेरे इस निवेदन को याद करेगी। मैं जानता हूँ कि वह दिन इस निवेदन से नजदीक आ गया है।

अंग्रेजों से अगर यह प्रार्थना की जाये कि वे जितने बहादुर आज हैं उससे भी ज्यादा बहादुर और अच्छे बनें, तो इसमें किसी भी अंग्रेज को बुरा क्यों लगे? ऐसा करने के लिए वह अपने को असमर्थ बता सकता है, मगर उसके दैवी स्वभाव को जागृत करने के लिए निवेदन उसे बुरा क्यों लगे?

इस निवेदन के कारण भला, वैर-भाव क्यों पैदा हो ? निवेदन के तर्ज मे या विचार मे वैर-भाव पैदा करनेवाली कोई चीज ही नहीं है। मैंने लडाई बद करने की सलाह नहीं दी। मैंने तो सिर्फ यह सलाह दी है कि लडाई को मनुष्य-स्वभाव के योग्य, दैवी तत्त्व के लायक ऊँचे आधार पर ले जाया जाये। अगर ऊपर लिखे पत्र का छिपा अर्थ यह है कि यह निवेदन निकालकर मैंने नाज़ियों के हाथ मजबूत किये हैं, तो जरा-सा भी विचार करने पर यह शका निर्मूल सिद्ध हो जायेगी। अगर ब्रिटेन लडाई का यह नया तरीका अख्तियार कर ले, तो हेर हिटलर उससे परेशान हो जायेंगे. पहली ही चोट पर उन्हें पता चल जायेगा कि उनका अस्त्र-शस्त्र का सामान सब निकम्मा हो गया है।

योद्धा के लिए तो युद्ध उसके जीवन का साधन है, भले ही वह युद्ध आत्मरक्षण के लिए हो या दूसरों पर आक्रमण करने लिए अगर उसे यह पता चल जाता है कि उसकी युद्ध-शक्ति का कुछ भी उपयोग नहीं, तो वह बेचारा निर्जीव-सा हो जाता है।

मेरे निवेदन में एक बुजदिल आदमी एक बहादुर राष्ट्र को अपनी बहादुरी छोडने की सलाह नहीं दे रहा है, न एक सुख का साथी एक मुसीबत मे आ फॅसे अपने मित्र का मजाक ही उड़ा रहा है। मै पत्र-लेखक को कहूँगा कि इस खुलासे को ध्यान मे रखकर फिर से एकबार मेरा वह निवेदन पढ़ें।

हाँ, हेर हिटलर और सब आलोचक एक बात कह सकते हैं कि मै एक बेवकूफ आदमी हूँ, जिसको दुनिया का या मनुष्य-

स्वभाव का कुछ ज्ञान ही नहीं है। यह मेरे लिए एक निर्दोष प्रमाण-पत्र होगा, जिसके कारण न वैरभाव पैदा होना चाहिए, न क्रोध। यह प्रमाण-पत्र निर्दोष होगा, क्योंकि मुझे पहले भी कई ऐसे प्रमाण-पत्र मिल चुके है। उनकी यह सबसे नई आवृत्ति होगी और मैं आशा रखता हूँ कि सबसे आखिर की नहीं, क्योंकि मेरे बेवकूफी के प्रयोग अभी खत्म नहीं हुए।

जहाँतक हिन्दुस्तान का वास्ता है, अगर वह मेरी शुद्ध अहिंसा की नीति को अपनायें, तो उससे उसे नुकसान पहुँच ही नहीं सकता। अगर हिन्दुस्तान एकमत से उसे नामजूर करता है, तो भी उससे देश को किसी प्रकार का नुकसान नहीं होगा। नुकसान अगर होगा तो उन लोगों का, जो 'मूर्खता' से उसपर अमल करते रहेंगे। पत्र-लेखक ने यह कहकर कि 'महात्माजी अपने-आपको अपनी सामग्री के मुताबिक बनाने की अजीब शक्ति रखते हैं' मेरा बड़ा भारी गुण बताया है। मेरी सामग्री की बाबत मेरे स्वाभाविक ज्ञान ने मुझे ऐसी श्रद्धा दी है कि जो हिलाई नहीं जा सकती। मुझे अन्दर से महसूस होता है कि सामग्री तैयार है। मेरी इस अन्दरूनी आवाज ने आजतक मुझे कभी धोखा नहीं दिया। मगर मुझे पिछले अनुभव की बुनियाद पर कोई बड़ी इमारत नहीं खड़ी करनी चाहिए। 'मुझे अलम् है देव, एक डग।'

'हरिजन-सेवक' : ३ अगस्त, १९४०

: १६ :

नाज़ीवाद का नग्न रूप

एक हालैण्ड-निवासी लिखते हैं :—

"आपको शायद याद होगा कि सन् १६३१ ई० में जब आप स्वीजरलैंड में रोमाँ रोलाँ साहब के मेहमान थे, तब मैंने आपकी एक तस्वीर खींची थी। इससे पहले भी हिन्दुस्तान में स्वतन्त्रता हासिल करने के लिए जो आन्दोलन चल रहा था उसका मैं रुचि-पूर्वक अध्ययन करता था, खासकर आपके नेतृत्व और युद्ध-पद्धति का। आपको मालूम है कि मैं हालैंड की प्रजा हूँ। कई साल तक मैं जर्मनी में रह चुका हूँ। वहाँ अपनी आजीविका के लिए मैं कलाकार का धंधा करता था। जब सात साल पहले नाज़ी-शाही ने जर्मनी पर अपनी सत्ता जमा ली, तो मेरी अन्तरात्मा में कई शंकाएँ पैदा होने लगीं, खास तौर पर अपने तीन बच्चों की तालीम के बारे में मुझे कई बार हुआ कि आपसे सलाह करूँ, मगर पुनर्विचार करने पर मैंने वह ख़याल छोड़ दिया। अपना मामला सन्तोषकारक रूप से खुद ही सुलझा लिया।

एक साल से मैं म्युनिक का अपना घर छोड़कर हालैंड में कुछ

समय के लिए आ गया था। जब लडाई शुरू हुई थी तो जर्मनी मे लौटने के बदले मैं हालैंड मे ही रह गया, क्योकि अपने बच्चो को मै जर्मन के युद्ध के उन्मादकारी असर से बचाना चाहता था। दसवी मई को हर प्रकार की कुटिल और सूक्ष्म युक्ति की मदद से आखिर हालैंड पराजित किया गया। चार दिन की बेदरेग बमबाजी के बाद हम इग्लैड भाग गये, और अब जावा जा रहे है। जावा मेरा जन्म-स्थान है इस नयी आबादी मे मै अपने लिए आजीविका का कोई साधन ढूढने की कोशिश करूँगा—शोषण के हेतु से नहीं, पर एक अतिथि के तौर पर।

यूरोप ने शस्त्र-बल और हिंसा को अपना आधार बना लिया है। पिछले जमाने मे तो फिर भी सग्राम मे धर्म-युद्ध के नियमो का कुछ पालन होता था। मगर नाजीवाद ने इन सब चीजों को ख़ैरबाद कह दिया है। और मैं सच्चे दिल से यह कह सकता हू कि आजकल के जर्मनी ने जिस तरह मैली दगाबाज़ी, धूर्तता और कायरता का उपयोग अपना हेतु सिद्ध करने के लिए किया है इस तरह किसी और देश ने नही किया। छोटे बच्चो को परवरिश के साथ ही हिसा करा-कराकर बडा किया जाता है। नाज़ी जर्मनी मे बच्चों को अपने माँ-बाप के प्रति फरेब और दगाबाजी बाकायदा तौर पर सिखाई जाती है। वैसे ही, तरह-तरह की और अनीतियाँ भी उन्हे सिखाई जाती हैं।

हेर मेन रौशनिग ने "हिटलर के उद्गार" और "विध्वंसकारी क्राति" के नाम से दो पुस्तके लिखी है। श्री रौशनिग हिटलर के

एक पुराने निकट के साथी है। आजकल के नाजी जर्मनी का इन पुस्तकों मे एक जीता-जागता चित्र मिलता है और हर किसी को उसे पढना चाहिए। हेर हिटलर का हेतु ही नैतिक मर्यादाओं का विध्वस करना है और जर्मन नवयुवक वर्ग में से अधिकाश इसका शिकार वन चुके हैं।

'हरिजन' में आपका "जर्मनी में यहूदी प्रश्न" शीर्षक लेख मैंने ख़ास दिलचस्पी से पढा था, क्योकि वहाँ मेरे वहुत-से यहूदी मित्र हैं। आपने उस लेख में कहा है कि युद्ध के लिए अगर कभी कोई वाजिब कारण हो सकता है, तो जर्मनी के खिलाफ युद्ध के लिए आज वह है। मगर उसी लेख में आपने यह भी लिखा है कि अगर आप यहूदी होते, तो अहिंसा द्वारा नाजियो का दिल पिघलाने की कोशिश करते। अभी-अभी आपने ब्रिटेन को यह सलाह भी दी है कि शस्त्र से मुक़ावला किये विना वह अपने रमणीय द्वीप को हमला करनेवाले जर्मनों के हवाले कर दें और बाद में अहिंसा द्वारा विजेताओं को जीत लें। ससार के इतिहास में शायद ऐसा दूसरा कोई व्यक्ति न होगा कि जो अहिसा के अमल के बारे में आपसे अधिक जानता हो। इस बारे में आपके विचारों के प्रभाव ने न सिर्फ हिन्दुस्तान में बल्कि दुनिया में बाहर भी करोडों के दिलों में आपके प्रति पूज्य भाव और प्रेम पैदा कर दिया है। × × × मगर आजकल के नाज़ी जर्मनी मे नवयुवक-वर्ग अपने दिलोदिमाग दोनों का व्यक्तित्व खो वैठा है, और इन्सान मिटकर वह मानो यन्त्र वन

गया है। जर्मनी के युद्ध-तंत्र में भी पूरी-पूरी यन्त्र की निष्ठुरता है। मशीनों को चलानेवाले आदमी भी मानों भावना-शून्य और हृदय-विहीन मशीन ही हैं। बेकस औरतों और बच्चों की शरीर-शय्या के ऊपर से अपने गुस्से के फौलादी जहाज चलाकर उन्हें कुचलने में उन्हें दरेग नहीं आता, न अर्मनिक शहरों पर बम के गोले बरसाकर सैकड़ों और हजारों की तादाद में बच्चों और औरतों को कत्ल करने में ही। इन्हीं बच्चों और औरतों को धावा बोलते वक्त अपने आगे रखकर ढाल के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। जहरमिली खुराक बांटकर हलाल करने के किस्से भी बन चुके हैं। मैं खुद कई ऐसी घटनाओं के बारे में गवाही दे सकता हूँ। आपके कई अनुयायियों के साथ जर्मनी के खिलाफ सफलता से अहिंसा का प्रयोग करने के बारे में मेरी बातचीत हुई है। मेरा एक मित्र विलायत में युद्ध के जर्मन क़ैदियों पर जिरह करने के काम में लगा था। उसपर इन जर्मन नवयुवकों की आध्यात्मिक सकुचितता और अध पतन का ऐसा कड़ा आघात हुआ कि उसे कबूल करना पड़ा कि ऐसे यंत्ररूप नौजवानों के सामने अहिंसा का प्रयोग चल नहीं सकता। सबसे भयकर बात तो यह है कि इस ७ साल के अर्से में हिटलर इस हदतक इनका नैतिक पतन करने में कामयाब हुआ है। दुनिया के इतिहास में मुझे दूसरी ऐसी कोई मिसाल दिखाई नहीं देती कि किसी प्रजा की यहाँतक आध्यात्मिक अधोगति हुई हो।"

इस मित्र ने अपना नाम व पता-ठिकाना मुझे भेजा है। मुझे

नाजी क्रूरता और निष्ठुरता की इतनी चिन्ता नहीं। मुझे चिन्ता में डालनेवाली तो इस मित्र की यह मान्यता लगती है कि हिटलर या उनकी जर्मन प्रजा इतनी यन्त्रवत् और जड़वत् बन चुकी है कि अब अहिंसा का प्रयोग असर डाल ही नहीं सकता। मगर अहिंसा अगर काफ़ी दर्जेतक चलाई जाये, तो जरूर उसका असर हेर हिटलर पर और उनके धोखे के जाल मे फँसी हुई प्रजा पर तो और भी निश्चित रूप पडनेवाला है। कोई आदमी हमेशा के लिए यन्त्रवत नहीं बनाया जा सकता। जहाँ उसके सिर पर से सत्ता का भारी बोझ उठा कि वह अपनी सच्ची प्रकृति के अनुसार फिर चलने लगता है। अपने परिमित अनुभव पर से जो सिद्धान्त इस मित्र ने गढ़ लिया है वह बताता है कि अहिसा की गति को उसने समझा ही नहीं। बेशक, ब्रिटिश सरकार ऐसे प्रयोगों मे नहीं पड सकती कि जिनमे उसे कामचलाऊ भी श्रद्धा नहीं, और इस तरह अपने-आपको वह जोखिम मे नहीं डाल सकती। लेकिन अगर मुझे मौका दिया जाये, तो मेरी शारीरिक शक्ति दुर्बल होते हुए भी असम्भव-जैसी दिखाई देनेवाली बात के लिए भी मैं बेधडक प्रयास कर सकता हूँ, क्योंकि अहिंसा का साधक अपने बल पर मैदान मे नहीं उतरता, वह तो ईश्वरीय बल पर आधार रखता है। इसलिए अगर मेरे लिए रास्ता खोल दिया जाये, तो मुझे यकीन है कि ईश्वर मुझे शारीरिक बल भी दे देगा और मेरी वाणी मे वह अमोघ प्रभाव भी पैदा कर देगा। कुछ भी हो, मेरी तो ,सारी जिन्दगी

इस तरह श्रद्धा के प्रयोगों मे बीती है। मुझमे अपनी कोई स्वतन्त्र शक्ति है, यह मैंने कभी माना ही नहीं। निरीश्वरवादी लोगों को इसमे शायद लाचारी और बेबसी की बू आयेगी। अपने-आपको शून्य बनाकर ईश्वर सारे-का-सारा आधार रखने को अगर न्यूनता माना जाये, तो मुझे कबूल करना पड़ेगा कि अहिंसा की जड मे यही न्यूनता भरी है।

'हरिजन-सेवक' : १७ अगस्त, १९४०

: १७ :

"निर्बल बहुमत' की कैसे रक्षा हो?

इस्लामिया कालेज के प्रोफेसर तैमूर एक पत्र में लिखते हैं :—

"इस समस्या के युग में अहिंसा की गुप्त शक्तियों की झाँकी कराकर आपने जगत को अपना ऋणी बनाया है। बाहरी आक्रमण से शस्त्र-धारण किये बिना हिन्दुस्तान की रक्षा करने का जो प्रयोग आप करना चाहते हैं वह बेशक युग-युगांतरों में सबसे ज़बरदस्त नैतिक प्रयोग के तौर पर माना जायेगा। इस प्रयोग के सिर्फ दो ही नतीजे आ सकते हैं - या तो हमला करनेवालों की आत्मा उनके सामने खड़ी निर्दोष प्रजा के प्रेम से जाग्रत होगी और वह अपने किये पाप पर पशेमान होंगे, या यह होगा कि अपने अहंकार के उन्माद में अहिंसा को शारीरिक शक्ति के क्षय और निर्वीर्यता का चिन्ह मानकर वह समझने लगें कि एक कमजोर प्रजा को पराजित करके उस पर हुकूमत करना ही एक सही और ठीक बात है। जर्मन तत्त्ववेत्ता नीत्शे का यह सिद्धांत था और उसीपर आज हिटलर अमल कर रहा है। इस तरह भौतिक शक्ति से

सम्पन्न राष्ट्र एक गरीब और शरीर से निर्बल प्रजा को पराजित कर पाये, तो इसमें भारी हानि है। पराजित राष्ट्र के चन्द इने-गिने व्यक्ति भले अपने आत्म-बल का जौहर बताकर विजेता के आगे सिर झुकाने से इन्कार करें, मगर प्रजा का अधिकाश तो आखिर उसकी शरण लेगा ही और अपनी प्राण-रक्षा की खातिर गुलामी की गिडगिडाने की रीति ग्रहण करेगा। ऐसे लोगों में बडे-बडे विज्ञानवेत्ता तत्त्वज्ञ और कलाकार लोग भी आ सकते हैं। प्रतिभा और नैतिक बल तो भिन्न-भिन्न चीजें हैं। वे एक ही व्यक्ति में अक्सर इकट्ठे नहीं पाये जाते। जो सशक्त है उसे अपनी स्वतत्रता की रक्षा के लिए फौज की जरूरत नहीं, वह अपने शरीर की आहुति देकर भी अपनी आत्मा की रक्षा कर लेगा। मगर ऐसे लोग इने-गिने ही हो सकते हैं। हरेक देश में बहुमत तो कमज़ोर निर्बल प्रजा का ही होता है। उन्हें रक्षा की आवश्यकता रहती है। सवाल यह है कि अहिंसा के उपाय से उनकी रक्षा कैसे हो? देश की अहिसा के उपाय से रक्षा करने की नीति पर विचार करते हुए हरेक देश-भक्त आदमी के सामने यह एक समस्या खडी हो जाती है। क्या आप 'हरिजन' द्वारा इसपर कुछ प्रकाश डालेंगे?"

इसमे शक नहीं कि "निर्बल बहुमत" को रक्षा की जरूरत है। अगर सब-की-सब प्रजा सिपाही होती—फिर भले वह शस्त्रधारी हो या अहिंसात्मक—तो इस किस्म की चर्चा का मौका ही न आता। ऐसा दुर्बल बहुमत हमेशा हर देश मे रहता ही है, जिसे दुर्जनों से रक्षा की जरूरत रहती है। इसका पुराना तरीका

तो हम जानते ही हैं। उसको हम स्वीकार करलें, तो उसके अन्त में नाज़ीवाद को आना ही है। नाज़ीवाद की जरूरत महसूस की गई थी, तभी इसका जन्म हुआ। एक सारी-की-सारी कौम पर एक घोर अत्याचार लादा गया था। उसको हटाने के लिए एक बड़ी चीख-पुकार मच रही थी। इस अत्याचार का बदला लेने को हिटलर पैदा हुआ। आजकल के युद्ध का चाहे आखिरी परिणाम कुछ भी क्यों न हो, जर्मनी अपने को आगे की तरह फिर अपमानित नहीं होने देगा। मानव-जाति भी ऐसे अत्याचार को दोबारा सहन नहीं करने की। मगर एक गलती को मिटाने के लिए, एक अत्याचार का बदला लेने के लिए हिंसा का गलत रास्ता अख्त्यार करके, और इस हेतु से हिंसा-शास्त्र को लगभग सम्पूर्णता के दर्जेतक पहुँचाकर के हिटलर ने जर्मन प्रजा को ही नहीं, बल्कि मानव-जाति के अधिकांश को हैवान-सा बना दिया है। अभी इस क्रिया का अन्त हमने नहीं देखा, क्योंकि इसके मुकाबले मे ब्रिटेन को भी—जबतक वह हिंसा के पुरातन मार्ग को पकड़े बैठा है—अपने सफल रक्षण के लिए नाज़ी तरीके अपनाने होंगे। इस तरह हिंसा-नीति को ग्रहण करने का कुदरती और अनिवार्य परिणाम यही होगा कि इन्सान—और इसमे "निर्बल बहुमत" भी आ जाता है—दर्जा-ब-दर्जा अधिक पाशवी स्वभाववाला बने, क्योंकि निर्बल बहुमत को आवश्यक मात्रा मे अपने रक्षकों को सहयोग देना ही होगा।

अब फर्ज कीजिए कि इसी बहुमत की अहिंसा-नीति द्वारा

रक्षा की जाती है। पाशविकता, धोखेबाजी, द्वेष आदि को तो इसमें स्थान ही न होगा। नतीजा यह होगा कि दिन-ब-दिन रक्षक दल का नैतिक वातावरण सुधरेगा। इसके साथ ही, जिसकी रक्षा की जा रही है, उस "निर्बल बहुमत" का भी नैतिक उत्थान होगा। इसमें केवल दर्जे का फर्क हो सकता है, मगर क्रिया में नहीं।

केवल इस तरीके मे मुश्किल तब पेश आती है, जब हम अहिंसा के साधन को अमल मे लाने की कोशिश करते हैं। हिंसात्मक युद्ध के लिए शस्त्रधारी सिपाही ढूँढने मे कोई दिक्कत नहीं पेश होती। मगर अहिंसक सिपाहियों का रक्षा-बल बनाते हुए हमे बड़ी सावधानी से भरती करनी पडती है। रुपये या तनख्वाह की लालच से तो ऐसे सिपाही पैदा नहीं किये जा सकते। यह खेल ही दूसरे प्रकार का है। मगर पचास वर्ष तक अहिंसक युद्ध के अनुभव के परिणामस्वरूप भविष्य के लिए आज मेरी आशा मजबूत बनी है। "दुर्बल बहुमत" की अहिंसा-शस्त्र द्वारा रक्षा करने मे मुझे काफी कामयाबी मिली है। मगर अहिंसा-जैसे दैवी शस्त्र के अन्दर छुपी हुई प्रचड शक्ति को खोज निकालने के लिए पचास साल का अर्सा चीज क्या है? इसलिए इस पत्र के लेखक की तरह जो लोग अहिंसा-शस्त्र के प्रयोग मे रस लेने लगे हैं उन्हें चाहिए कि यथा शक्ति और यथावसर इस प्रयोग मे शामिल हों। यह प्रयोग अब एक निहायत मुश्किल मगर रोचक मंजिल पर पहुँचा है। इस अपरिचित महासागर पर मैं खुद अपना रास्ता अभी ढूँढ रहा हूँ। मुझे कदम-कदम पर

में कितनी गहराई मे हूँ इसका माप लेना पडता है । कठिनाइयों से मेरी हिम्मत कम नहीं होती, मेरा उत्साह और बढता ही है।

'हरिजन सेवक' · २४ अगस्त, १९४०

: १८ :

कुछ टीकाओं के उत्तर

अखिल-भारतीय काग्रेस कमेटी के हाल के प्रस्ताव और उसमे दिये गये मेरे भाषण पर मीठी-कडवी सब तरह की काफी टीकाएँ हुई है। उनमे से कुछ का जवाब मैं यहाँ देने की कोशिश करूँगा, क्योंकि उनका सम्बन्ध मौलिक सिद्धातों के साथ है। १७ तारीख के 'टाइम्स आफ इडिया' ने अपनी सौम्य टीका मे मुझे यह कहने के लिए आड़े हाथों लिया है कि यूरोप के लोग नहीं जानते कि आखिर वे लड़ किस चीज के लिए रहे है? मै जानता था कि मेरे इस वाक्य से कई लोग नाराज होंगे। परन्तु खरी बात सुनाना जब प्रस्तुत ही नहीं बल्कि धर्म बन जाता है तो उसे सुनाना ही पड़ता है, चाहे वह कडवी ही क्यों न लगे। मेरी धारणा है कि इस बारे मे उलटी मुझसे काफी ढील हुई है, मेरे मूल वाक्य मे मैंने 'युद्धरत राष्ट्र' यह शब्द प्रयोग किया था, न कि 'यूरोप की जनता'। दोनों मे केवल शब्दभेद नहीं, मर्मभेद है। मैंने कई बार बताया है कि राष्ट्र और उनके नेता दो अलग-अलग चीजें हैं। नेतागण तो खूब अच्छी तरह समझते है कि उन्हे

लड़ाई किसलिए चाहिए? इसका मतलब यह नहीं कि वे जो कुछ कहते हैं ठीक है। परन्तु न तो अंग्रेज, न जर्मन और न इटालियन जनता यह जानती है कि वह क्यों युद्ध मे पड़ी है? सिर्फ उसकी अपने नेताओं पर श्रद्धा है इसीलिए वह उनके पीछे-पीछे चलती है। मेरा कहना यह है कि आधुनिक युद्ध-जैसे भीषण हत्याकाड मे इस तरह अन्धश्रद्धा से कूद पडना ठीक नही। मेरी इतनी बात तो मेरे टीकाकार भाई भी कबूल करेंगे कि अगर आज जर्मन और इटालियन जनता से पूछा जाय कि अंग्रेज बच्चों की निर्दयतापूर्वक हत्या करना या सुन्दर अंग्रेज घरों की ईंट से ईट बजाना किस तरह से मुनासिब या जरूरी है, तो वह कुछ समझा न सकेंगे। मगर 'टाइम्स' शायद यह कहना चाहता है कि इस बारे मे अंग्रेज प्रजा औरों से निराली है, वह जानती है कि वह किसलिए लड रही है। जब मै दक्षिण अफ्रीका मे अंग्रेज सिपाहियों से पूछता था कि वे क्यों लड रहे है, तो वे मुझे कुछ जवाब न दे पाते थे। वे तो अंग्रेज कविरत्न टेनीसन की इस उक्ति के अनुयायी थे कि 'सिपाही का धर्म बहस करना नहीं, लड़ मरना है।' वे इतना भी नहीं जानते कि कूच करके उन्हे कहाॅ जाना है? अगर आज लदन के लोगों से पूछूॅ कि उनके हवाई जहाज आज बर्लिन की तबाही क्यों कर रहे है, तो वे मुझे औरों की अपेक्षा अधिक सतोपकारी जवाब न दे सकेंगे। अखबारों में जो खबरें छपती है वे अगर भरोसे के काबिल है तो अंग्रेजों की हिक्मत और बहादुरी ने बर्लिन-निवासियों का जैसा कचूमर

निकाला है उसके मुकाबिले मे जर्मन लोग लदन पर कुछ भी नहीं कर सके। भला जर्मन जनता ने अंग्रेजी जनता का क्या बिगाडा है? जो कुछ भी किया है वह तो उसके नेताओं ने किया है। उन्हे आप बेशक फॉसी पर लटकाएँ। मगर जर्मन प्रजा के घरों या उनकी गैरफौजी बस्ती की तबाही क्यों की जाती है? उन्मत्त विध्वंसकता की यह प्रवृत्ति चाहे नाजीवाद के नाम से चलाई जाय, चाहे प्रजातत्रवाद या स्वतन्त्रता का पवित्र नाम लेकर, नतीजा तो उसका एक ही होता है—मौत और तबाही, अनाथों और विधवाओं का विलाप, बेघरबार मारे-मारे फिरनेवाले गरीबों का रुदन। मै नम्रतापूर्वक, निश्चयपूर्वक और दृढ़तापूर्वक अपनी सारी शक्ति लगाकर कहना चाहता हूँ कि स्वतन्त्रता और लोक-शासन जैसे पवित्र हेतु भी जब निर्दोष रक्त से रँगे जाते है तो वे अपनी पवित्रता खोकर पापमूल बन जाते है। मुझे तो ईसा की अमर आत्मा आज यह पुकार करती हुई सुनाई देती है कि 'ये लोग जो अपने को मेरे बच्चे कहते है जानते नहीं कि वे आज क्या कर रहे हैं। वे मेरे स्वर्गस्थ पिता का व्यर्थ नाम लेते है और उसके मुख्य आदेश की अवज्ञा करते हैं।' अगर मेरे कानों ने मुझे धोखा नहीं दिया तो मैंने और भी बहुत से महानुभाव पुण्यपरायण व्यक्तियों को ऐसा ही कहते सुना है।

मैंने यह सत्य घोषणा क्यों की है? इसलिए कि मेरा विश्वास है कि ईश्वर ने मुझे अमन और शान्ति का सुमार्ग जगत को बताने का निमित्त बनाया है। अगर ब्रिटेन को न्याय मॉगना है तो ईश्वर

के दरबार मे उसे साफ हाथ लेकर जाना चाहिए। आजादी और लोकशासन की रक्षा वह युद्ध मे जर्मनी या इटली के जैसे तरीकों से युद्ध चलाकर नहीं कर सकेगा। हिटलर को हिटलर की पद्धति से मात करके वह बाद मे अपनी तर्ज को बदल न सकेगा। गत युद्ध पुकार-पुकारकर हमे यही सिखाता है। इस तरह से प्राप्त की हुई विजय एक खतरनाक जाल और धोखे की टट्टी साबित होगी। मै जानता हूँ कि आज मेरी पुकार अरण्यरुदन ही है, परन्तु एक दिन दुनिया इसकी सच्चाई को पहचानेगी। अगर प्रजातन्त्रवाद या स्वतन्त्रता को विनाश से सचमुच 'बचाना है तो वह शात, परन्तु सशस्त्र मुकाबले से कहीं अधिक प्रभावशाली और तेजस्वी मुकाबले द्वारा ही हो सकेगा। यह मुकाबला सशस्त्र मुकाबले से अधिक वीरतापूर्ण और तेजस्वी इसलिए होगा कि इसमे जान लेने की बात नही, केवल जान पर खेल जाने की बात है।

'हरिजन-सेवक' : ५ अक्तूबर, १९४०

: २ :

म्यूनिक-संकट, यहूदियों का प्रश्न अबीसीनिया का युद्ध और अहिंसा

: १ :

चेकोस्लोवाकिया और अहिंसा का मार्ग

यह जानकर खुशी होनी ही चाहिए कि फिलहाल तो युद्ध का खतरा टल गया है। इसके लिए जो कीमत चुकानी पडी क्या शायद वह बहुत ज्यादा है ? क्या इसके लिए शायद अपनी इज्जत से हाथ नहीं धोना पड़ा है ? क्या यह सगठित हिसा की विजय है ? क्या हेर हिटलर ने हिसा को सगठित करने का ऐसा नया तरीका ढूँढ़ निकाला है कि जिससे रक्तपात किये बिना ही अपना मतलब सिद्ध हो जाता है ? मै यह दावा नही करता कि यूरोप की राजनीति से मुझे जानकारी है। लेकिन मुझे ऐसा मालूम पडता है कि यूरोप मे छोटे राष्ट्र अपना सिर ऊँचा रखकर कायम नहीं रह सकते। उन्हें तो उनके बडे-बड़े पड़ोसी हजम कर ही लेंगे और उन्हे उनके जागीरदार बनकर ही रहना पडेगा।

यूरोप ने चार दिन की दुनियवी जिन्दगी के लिए अपनी आत्मा को बेच दिया है। म्यूनिक मे यूरोप को जो शान्ति प्राप्त हुई है वह तो हिसा की विजय है। साथ ही वह उसकी हार भी है। क्योंकि इग्लैड और फ्रास को अगर अपनी विजय का

निश्चय होता, तो वे चेकोस्लोवाकिया की रक्षा करने या उसके लिए मर मिटने के अपने कर्त्तव्य का पालन जरूर करते। मगर जर्मनी और इटली की संयुक्त हिंसा के सामने वे हिम्मत हार गये। लेकिन जर्मनी और इटली को क्या लाभ हुआ? क्या इससे उन्होंने मानव-जाति की नैतिक सम्पत्ति मे कोई वृद्धि की है?

इन पंक्तियों के लिखने मे उन बड़ी-बड़ी सत्ताओं से मेरा कोई वास्ता नहीं है। मैं तो उनकी पाशवी शक्ति से चौंधिया जाता हूँ। चेकोस्लोवाकिया की इस घटना मे मेरे और हिन्दुस्तान के लिए एक सबक मौजूद है। अपने दो बलवान साथियों के अलग हो जाने पर चेक लोग और कुछ कर ही नहीं सकते थे। इतने पर भी मै यह कहने की हिम्मत करता हूँ कि राष्ट्रीय सम्मान-रक्षा के लिए अहिंसा के शस्त्र का उपयोग करना अगर उन्हे आता होता, तो जर्मनी और इटली की सारी शक्ति का वे मुकाबला कर सकते थे। उस हालत मे इग्लैंड और फ्रांस को वे ऐसी शान्ति के लिए आरजू-मिन्नत करने की बेइज्जती से बचा सकते थे, जो वस्तुतः शान्ति नहीं है और अपनी सम्मान-रक्षा के लिए वे अपने को लूटनेवालों का खून बहाये बिना मर्दों की तरह खुद मर जाते। मै यह नहीं मानता कि ऐसी वीरता, या कहिए कि निग्रह, मानव-स्वभाव से कोई परे की चीज है। मानव-स्वभाव अपने असली स्वरूप मे तो तभी आयगा जबकि इस बात को पूरी तरह समझ लिया जायगा कि मानव-रूप अख्त्यार करने के लिए उसे

अपनी पाशविकता पर रोक लगानी पड़ेगी। इस वक्त हमें मानव-रूप तो प्राप्त है, लेकिन अहिंसा के गुणों के अभाव में अभी भी हमारे अन्दर प्राचीनतम पूर्वज—'डार्विन' के बन्दर के संस्कार विद्यमान हैं।

यह सब मैं यों ही नहीं लिख रहा हूँ। चेकों को यह जानना चाहिए कि जब उनके भाग्य का फैसला हो रहा था तब कार्य-समिति को बड़ा कष्ट हो रहा था। एक तरह तो यह कष्ट बिलकुल खुदगर्जी का था। लेकिन इसी कारण वह अधिक वास्तविक था। क्योंकि संख्या की दृष्टि से तो हमारा राष्ट्र एक बड़ा राष्ट्र है, लेकिन संगठित वैज्ञानिक हिंसा में वह चेकोस्लोवाकिया से भी छोटा है। हमारी आजादी न केवल खतरे में है, बल्कि हम उसे फिर से पाने के लिए लड़ रहे हैं। चेक लोग शस्त्रास्त्रों से पूरी तरह सुसज्जित हैं, जबकि हम लोग बिलकुल निहत्थे हैं। इसलिए समिति ने इस बात का विचार किया कि चेकों के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है, और अगर युद्ध हो तो कांग्रेस को क्या करना चाहिए। क्या हम चेकोस्लोवाकिया के प्रति मित्रता जाहिर करके अपनी आजादी के लिए इंग्लैण्ड से सौदा करें, या वक्त पड़ने पर अहिंसा के ध्येय पर कायम रहते हुए पीड़ित जनता से यह कहें कि हम युद्ध में शामिल नहीं हो सकते, फिर वह प्रत्यक्ष रूप में चाहे उस चेकोस्लोवाकिया की रक्षा के लिए ही क्यों न हो जिसका एकमात्र कसूर यह है कि वह बहुत छोटा होने के कारण अपने आप अपनी रक्षा नहीं कर सकता। सोच-विचार के बाद कार्य-समिति

करीब-करीब इस निर्णय पर आई कि वह इंग्लैण्ड से सौदा करने के इस अनुकूल अवसर को तो छोड़ देगी, लेकिन संसार की शान्ति, चेकोस्लोवाकिया की रक्षा और हिन्दुस्तान की आजादी की दिशा में संसार के सामने यह घोषित करके वह अपनी देन जरूर देगी कि सम्मानपूर्ण शान्ति का रास्ता निर्दोषों की पारस्परिक हत्या नहीं, बल्कि इसका एकमात्र सच्चा उपाय प्राणों तक की बाजी लगाकर संगठित अहिंसा को अमल में लाना है।

अपने ध्येय के प्रति वफादार रहते हुए कार्य-समिति यही तर्कसम्मत और स्वाभाविक रास्ता अख्त्यार कर सकती थी, क्योंकि अगर हिन्दुस्तान अहिंसा से आजादी हासिल कर सकता है, जैसा कि कांग्रेसजनों का विश्वास है, तो उसी उपाय से वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा भी कर सकता है और इसलिए और इस उदाहरण पर चेकोस्लोवाकिया-जैसे छोटे राष्ट्र भी ऐसा ही कर सकते हैं।

युद्ध छिड़ जाता तो कार्य-समिति असल में क्या करती, यह मैं नहीं जानता। लेकिन युद्ध तो अभी सिर्फ टला है। साँस लेने के लिए यह वक्त मिला है, इसमें मैं चेकों के सामने अहिंसा का रास्ता पेश करता हूँ। वे यह नहीं जानते कि उनकी किस्मत में क्या-क्या बदा है? लेकिन अहिंसा-मार्ग पर चल करके वे कुछ खो नहीं सकते। प्रजातन्त्रीय स्पेन का भाग्य आज झूले में लटक रहा है। और यही हाल चीन का भी है। अन्त में अगर ये सब हार जायें तो इसलिए नहीं हारेंगे कि इनका पक्ष न्यायोचित

नहीं है, बल्कि इसलिए कि विनाश या जन-संहार के विज्ञान में वे अपने विपक्षी की बनिस्बत कम कुशल हैं या इसलिए कि उनका सैन्यबल अपने विनाशियों की अपेक्षा कम है। प्रजातन्त्री स्पेन के पास अगर जनरल फ्रैंको के साधन हों या चीन के पास जापान की सी युद्ध-कला हो, अथवा चेकों के पास हर हिटलर की जैसी कुशलता हो तो उन्हें क्या लाभ होगा? मैं तो कहता हूँ कि अपने विरोधियों से लड़ते हुए मरना अगर बहादुरी है और वह वस्तुत है, तो अपने विरोधियों से लड़ने से इन्कार करके भी उनके आगे न झुकना और भी बहादुरी है। जब दोनों ही सूरतों में मृत्यु निश्चित है, तब दुश्मन के प्रति अपने मन में कोई भी द्वेष-भाव रखे बिना छाती खोलकर मरना क्या अधिक श्रेष्ठ नहीं है?

'हरिजन-सेवक' ८ अक्तूबर, १६३८

: २ :

अगर मैं 'चेक' होता!

हेर हिटलर के साथ जो समझौता हुआ है उसे मैंने 'असम्मान-पूर्ण शान्ति' कहा है, लेकिन ऐसा कहने में ब्रिटिश या फ्रेंच राजनीतिज्ञों की निन्दा करने का मेरा कोई इरादा नहीं था। मुझे इस बारे मे कोई सन्देह नहीं है कि श्री चैम्बरलेन इससे बेहतर किसी बात का खयाल ही नहीं कर सकते थे, क्योंकि अपने राष्ट्र की मर्यादाओं का उन्हें पता था। युद्ध अगर रोका जा सकता हो तो वह उसे रोकना चाहते थे। युद्ध को छोड़कर, चेकों के पक्ष में उन्होंने अपना पूरा जोर लगाया। इसलिए आत्मसम्मान को भी छोड़ना पडा तो इसमे उनका कोई दोष नहीं है। हेर हिटलर या सिन्योर मुसोलिनी के साथ झगड़ा होने पर इस बार ऐसा ही होगा।

इससे अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रजातन्त्र खूनखराबी से डरता है। और जिस तत्त्वज्ञान को इन दोनों अधिनायकों ने अपनाया है वह खूनखराबी से बचना कायरता समझता है। वे तो सगठित हत्या की प्रशसा मे सारी कवि-कला

खर्च कर डालते है। उनके शब्द या काम में कोई धोखा नहीं है। युद्ध के लिए वे सदा तैयार रहते हैं। जर्मनी या इटली मे उनके आड़े आनेवाला कोई नहीं है। वहाँ तो उनका शब्द ही कानून है।

श्री चैम्बरलेन या श्री दलादियर की स्थिति इससे भिन्न है। उन्हे अपनी पार्लमेण्टों और चैम्बरों को सन्तुष्ट करना पडता है। अपनी पार्टियों से भी उन्हे सलाह करनी पडती है। अगर अपनी जुबान को उन्हें लोकतन्त्री भावनायुक्त रखना है, तो वे हमेशा युद्ध के लिए तैयार नहीं रह सकते।

युद्ध का विज्ञान शुद्ध और स्पष्ट अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) पर ले जाता है। एकमात्र अहिंसा का विज्ञान ही शुद्ध प्रजातत्र की ओर ले जानेवाला है। इग्लैंण्ड, फ्रास और अमेरिका को यह सोच लेना है कि वे इनमे से किसको चुनेंगे? यही इन दो अधिनायकों (डिक्टेटर) की चुनौती है।

रूस का अभी इन बातों से कोई मतलब नहीं है। रूस में तो एक ऐसा अधिनायक है जो शान्ति के स्वप्न देखता है और यह समझता है कि खून की नदिया बहाकर वह उसे स्थापित करेगा। रूसी अधिनायकत्व दुनिया के लिए कैसा होगा, यह अभी कोई नहीं कह सकता।

चेकों और उनके द्वारा उन सब देशों को, जो 'छोटे' या 'कमजोर' कहलाते है, मै जो कुछ कहना चाहता हूँ उसकी भूमिका-स्वरूप यह सब कहना जरूरी था। चेकों से मै कुछ

इसलिए कहना चाहता हूँ, कि उनकी दुर्दशा से मुझे शारीरिक और मानसिक वेदना हुई है और मुझे ऐसा लगा कि इस सिलसिले मे जो विचार मेरे दिमाग मे चक्कर काट रहे थे उन्हे अगर उनपर प्रगट न करूँ तो वह मेरी कायरता होगी। यह तो स्पष्ट है कि छोटे राष्ट्र या तो अधिनायकों के आधीन हो जायँ या उनके सरक्षण मे आने के लिए तैयार रहें, नहीं तो यूरोप की शान्ति बराबर खतरे मे रहेगी। यथासम्भव पूरी सद्भावना रखते हुए भी इग्लैण्ड और फ्रास उनकी रक्षा नहीं कर सकते। उनके हस्तक्षेप का मतलब तो ऐसा रक्तपात और विनाश ही हो सकता है जैसा पहले कभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसलिए, अगर मै चेक होता तो इन दोनों राष्ट्रों को अपने देश की रक्षा करने की जिम्मेदारी से मुक्त कर देता। इतने पर भी मुझे जीवित तो रहना ही चाहिए। किसी राष्ट्र या व्यक्ति का आश्रित मै नहीं बनूंगा। मुझे तो पूरी स्वतत्रता चाहिए, नहीं मै मर जाऊँगा। हथियारों की लडाई मे जीतने की इच्छा करना तो निरी कोरी शेखी होगी। लेकिन जो मुझे अपनी स्वतत्रता से वचित करे उसकी इच्छा का पालन करने से इन्कार करके उसकी ताकत की अवज्ञा कर इस प्रयत्न मे मै निरस्त्र मर जाऊँ, तो वह कोरी शेखी नहीं होगी। ऐसा करने में मेरा शरीर तो नष्ट हो जायगा, लेकिन मेरी आत्मा याने मान-मर्यादा की रक्षा हो जायगी।

अभी-अभी इस अपकीर्त्तिकारक शांति की जो घटना घटी

है, यही मेरा मौका है। इस नदामत के कलंक को धोकर मुझे अब सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करनी होगी।

लेकिन एक हमदर्द कहता है, "हिटलर दया-मया कुछ नहीं जानता। आपका आध्यात्मिक प्रयत्न उसे किसी बात से नहीं रोकेगा।"

मेरा जवाब यह है कि "आपका कहना ठीक होगा। इतिहास मे ऐसे किसी राष्ट्र का उल्लेख नहीं है, जिसने अहिंसात्मक प्रतिरोध को अपनाया हो। इसलिए हिटलर पर अगर मेरे कष्ट-सहन का असर न पडे तो कोई बात नहीं, क्योंकि उससे मेरा कोई खास नुकसान न होगा। मेरे लिए तो मेरी मान-मर्यादा ही सब कुछ है और उसका हिटलर की दया-भावना से कोई ताल्लुक नहीं। लेकिन अहिंसा मे विश्वास रखने के कारण, मैं उसकी सम्भावनाओं को मर्यादित नहीं कर सकता। अभीतक उनका और उन जैसे दूसरों का यही अनुभव है कि मनुष्य पशुबल के आगे झुक जाते हैं। निःशस्त्र पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का अपने अन्दर कोई कटुता रक्खे बिना अहिंसात्मक प्रतिरोध करना उनके लिए एक अद्भुत अनुभव होगा। यह तो कौन कह सकता है कि ऊंची और श्रेष्ठ शक्तियों का आदर करना उनके स्वभाव के ही विपरीत है। उनके भी तो वही आत्मा है जो मेरे है।"

लेकिन दूसरा हमदर्द कहता है, "आप जो कुछ कहते हैं वह आपके लिए तो बिलकुल ठीक है। पर जनता से आप इस श्रेष्ठ

बात का आदर करने की आशा कैसे करते है ? वे तो लड़ने के आदि हैं। व्यक्तिगत वीरता मे वे दुनिया मे किसी से कम नहीं हैं। उन्हें अब अपने हथियार छोडकर अहिंसात्मक प्रतिरोध की शिक्षा पाने के लिए कहने का आपका प्रयत्न मुझे तो व्यर्थ ही मालूम पडता है।"

"आपका कहना ठीक होगा। लेकिन मुझे अन्तरात्मा का जो आदेश मिला है उसका पालन करना ही चाहिए। अपने लोगों याने जनता तक मुझे अपना सन्देश जरूर पहुँचाना चाहिए। यह अपमान मेरे अन्दर इतना अधिक समा गया है कि इससे बाहर निकलने के लिए कोई रास्ता चाहिए ही। कम-से-कम मुझे तो उसी तरह प्रयत्न करना चाहिए जैसा कि प्रकाश मुझे मिला है।"

यही वह तरीका है जिसपर कि, मेरा खयाल है, अगर मैं चेक होता तो मुझे चलना चाहिए था। सब से पहले जब मैंने सत्याग्रह शुरू किया, तब मेरा कोई संगी-साथी नहीं था। सारे राष्ट्र के मुकाबले मे हम सिर्फ तेरह हजार पुरुष, स्त्री और बच्चे थे, जिन्हें बिलकुल मटियामेट कर देने की भी उस राष्ट्र मे क्षमता थी। मैं यह नहीं जानता था कि मेरी बात कौन सुनेगा। यह सब बिलकुल अचानक-सा हुआ। कुल १३,००० लडे भी नहीं। बहुत-से पिछड गये। लेकिन राष्ट्र की लाज रह गई, और दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह से एक नये इतिहास का निर्माण हुआ।

खान अब्दुलगफ्फार खाँ शायद इसके और भी उपयुक्त

उदाहरण हैं, जो अपने को 'खुदाई खिदमतगार' कहते हैं और पठान जिन्हें फख्र्-ए-अफगान' कहकर प्रसन्न होते हैं। जब कि मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, वह मेरे सामने बैठे हुए हैं। उनकी प्रेरणा पर उनके कई हजार आदमियों ने हथियार बाँधना छोड दिया है। अपने बारे मे तो उनका खयाल है कि उन्होंने अहिंसा की शिक्षा को हृदयगम कर लिया है, पर अपने आदमियों के बारे मे उन्हें निश्चय नहीं है। उनके आदमी यहाँ क्या कर रहे हैं यह सब अपनी आँखों से देखने के लिए ही मैं सीमाप्रान्त आया हूँ, या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वह मुझे यहाँ लाये हैं। यह तो मैं पहले से ही फौरन कह सकता हूँ कि इन लोगों को अहिंसा का ज्ञान बहुत कम है। इनका सबसे बड़ा खजाना तो अपने नेता में अटूट विश्वास है। इन शान्ति-सैनिकों को मैं ऐसा नहीं समझता जिन्होंने इस दिशा में सम्पूर्णता प्राप्त कर ली हो। मैं तो इनका उल्लेख सिर्फ इसी रूप मे कर रहा हूँ कि एक सैनिक अपने साथियों को शाति-मार्ग पर लाने का ईमानदारी के साथ प्रयत्न कर रहा है। यह मैं कह सकता हूँ कि उनका यह प्रयत्न ईमानदारी के साथ किया जा रहा है और अन्त मे यह चाहे सफल हो या असफल, भविष्य में सत्याग्रहियों के लिए यह शिक्षाप्रद होगा। मेरा उद्देश्य तो इतने से ही सफल हो जायगा कि मैं इन लोगों के दिलों तक पहुँचकर इन्हें यह महसूस करा दूँ कि अपनी अहिंसा से अगर ये अपने को सशस्त्र स्थिति से अधिक बहादुर अनुभव करते हों तभी ये उसपर

कायम रहें, नहीं तो उसे छोड दें क्योंकि ऐसा न होने पर तो वह कायरता का ही दूसरा नाम है, और जिन हथियारों को उन्होंने स्वेच्छा से छोड रक्खा है उन्हें फिर से ग्रहण करलें।

डा० वेनेस को मैं यही अस्त्र पेश करता हूँ, जो कि दरअसल कमजोरों का नहीं, बहादुरों का हथियार है, क्योंकि मन मे किसी के प्रति कटुता न रखकर, पूरी तरह यह विश्वास रखते हुए कि आत्मा के सिवा और किसी का अस्तित्व नहीं रहता, दुनिया की ताकत के सामने, फिर वह कितनी ही वडी क्यों न हो, घुटने टेकने से दृढ़तापूर्वक इन्कार कर देने से बढकर कोई वीरता नहीं है।

'हरिजन-सेवक' : १५ अक्तूबर, १९३८

: ३ :

बड़े-बड़े राष्ट्रों के लिए अहिंसा

चेकोस्लोवाकिया पर लिखे गये मेरे हाल के लेखोंपर जो आलोचनाएँ हुईं, उनमें से एक का जवाब देना है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि चेकों को मैंने जो उपाय सुझाया वह तुलनात्मक रूप से कमजोर है, क्योंकि अगर वह चेकोस्लोवाकिया जैसे छोटे राष्ट्रों के ही लिए है, और इंग्लैण्ड, फ्रांस या अमेरिका जैसे बड़े राष्ट्रों के लिए नहीं, तो उसका कोई महत्व भी हो तो भी वह अधिक मूल्यवान नहीं है।

लेकिन मैंने बड़े राष्ट्रों को जो यह बात नहीं सुझाई इसका कारण उन देशों का बड़ा होना, या दूसरे शब्दों में मेरी भीरुता तो है ही, पर इसकी एक और खास वजह है। बात यह है कि वे मुसीबत-जदा नहीं थे और इसलिए उन्हें किसी उपाय की भी जरूरत नहीं थी। डाक्टरी भाषा मे कहूँ तो वे चेकोस्लोवाकिया की तरह रोगग्रस्त नहीं थे। उनके अस्तित्व को चेकोस्लोवाकिया की तरह कोई खतरा नहीं था। इसलिए महान् राष्ट्रों से मैं कोई बात कहता तो वह 'भैंस के आगे बीन बजाने' जैसी ही निष्फल होती।

अनुभव से मुझे यह भी मालूम हुआ कि सद्गुणों की खातिर लोग सद्गुणी मुश्किल से बनते है। वे तो आवश्यकतावश सद्गुणी बनते हैं। परिस्थितियों के दवाव से भी कोई व्यक्ति अच्छा बने तो उसमे कोई बुराई नहीं, लेकिन अच्छाई के लिए अच्छा बनना निस्सन्देह उससे श्रेष्ठ है।

चेकों के सामने सिवा इसके कोई उपाय ही न था कि या तो वे शान्ति के साथ जर्मनी की शक्ति के आगे सिर झुका दें या अकेले ही लड़कर निश्चित रूप से विनाश का खतरा उठाएँ। ऐसे अवसर पर ही मुझ जैसे के लिए यह आवश्यक मालूम हुआ कि वह उपाय पेश करूँ जिससे बहुत कुछ ऐसी ही परिस्थितियों मे अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है। चेकों से मैंने जो कुछ निवेदन किया, मेरी राय मे, वह बड़े राष्ट्रों के लिए उतना ही उचित है।

हॉ मेरे आलोचक यह पूछ सकते हैं कि जबतक हिन्दुस्तान मे ही मैं अहिसा की सौ फी सदी सफलता करके न बतला दूँ तबतक किसी पश्चिमी राष्ट्र से उसके न कहने की जो कैद खुद ही अपने ऊपर मैंने लगा रक्खी है उससे बाहर मैं क्यों गया? और खासकर अब, जबकि मुझे इस बात मे गम्भीर सन्देह होने लगा है कि काग्रेसजन अहिसा के अपने ध्येय या नीति पर वस्तुत कायम भी है या नहीं? जब मैंने वह लेख लिखा तब काग्रेस की वर्तमान अनिश्चित स्थिति और अपनी मर्यादा का मुझे जरूर ध्यान था। लेकिन अहिसात्मक उपाय में मेरा विश्वास हमेशा की तरह दृढ़ था और मुझे ऐसा लगा कि ऐसे आडे वक्त

चेकों को मै अहिंसात्मक उपाय ग्रहण करने के लिए न कहूँ तो यह मेरी कायरता होगी, क्योंकि ऐसे करोड़ों आदमियों के लिए जो अनुशासन-हीन है और अभी हाल मे पहले तक उसके आदी नहीं थे, जो बात अन्त मे शायद असम्भव साबित हो, वह सम्मिलित रूप से कष्ट-सहन के लायक छोटे और अनुशासनयुक्त राष्ट्र के लिए सम्भव हो सकती है। मुझे ऐसा विश्वास रखने का कोई हक नहीं है कि हिन्दुस्तान के अलावा और कोई राष्ट्र अहिंसात्मक कार्य के उपयुक्त नहीं है। अब मै जरूर कबूल करूँगा कि मेरा यह विश्वास रहा है और अब भी है कि अहिंसात्मक उपाय द्वारा अपनी स्वतन्त्रता फिर से प्राप्त करने के लिए हिन्दुस्तान ही सबसे उपयुक्त राष्ट्र है। इससे विपरीत आसारों के बावजूद, मुझे इस बात की उम्मीद है कि सारा जनसमुदाय जो कांग्रेस से भी बड़ा है, केवल अहिंसात्मक कार्य को ही अपनायेगा, क्योंकि भूमण्डल के समस्त राष्ट्रों मे हमीं ऐसे काम के लिए सबसे अधिक तैयार हैं। लेकिन जब इस उपाय के तत्काल अमल का मामला मेरे सामने आया तो चेकों को उसे स्वीकार करने के लिए कहे बिना मैं न रह सका।

मगर बड़े-बड़े राष्ट्र चाहें, तो चाहे जिस दिन इसको अपनाकर गौरव ही नहीं बल्कि भावी पीढ़ियों की शाश्वत कृतज्ञता भी प्राप्त कर सकते हैं। अगर वे या उनमे कोई विनाश के भय को छोड़कर नि:शस्त्र हो जायें तो बाकी सबके फिर से अक्लमन्द बनने मे वे अपने आप सहायक होंगे। लेकिन उस हालत मे इन बड़े-बड़े राष्ट्रों को साम्राज्यवादी महत्त्वकांक्षाओं तथा भूमण्डल के

असभ्य या अर्द्ध सभ्य कहे जानेवाले राष्ट्रों के शोषण को छोडकर अपने जीवन-क्रम को सुधारना पडेगा। इसका अर्थ हुआ पूर्ण क्रान्ति। पर बड़े-बडे राष्ट्र साधारण रूप मे विजय-पर-विजय प्राप्त करने की अपनी धारणाओं को छोडकर जिस रास्ते पर चल रहे हैं उससे विपरीत रास्ते पर वे एकदम नहीं चल सकते। लेकिन चमत्कार पहले भी हुए है और इस बिल्कुल नीरस जमाने मे भी हो सकते हैं। गलती को सुधारने की ईश्वर की शक्ति को भला कौन सीमित कर सकता है। एक बात निश्चित है। शस्त्रास्त्र बढ़ाने की यह उन्मत्त दौड अगर जारी रही, तो उसके फलस्वरूप ऐसा जनसहार होना लाजिमी है जैसा इतिहास मे पहले कभी नहीं हुआ। कोई विजयी बाकी रहा तो जो राष्ट्र विजयी होगा उसकी विजय ही जीते-जी उसकी मृत्यु बन जायगी। इस निश्चित विनाश से बचने का सिवा इसके कोई रास्ता नहीं है कि अहिंसात्मक उपाय को उसके समस्त फलितार्थों के साथ साहसपूर्वक स्वीकार कर लिया जाय। प्रजातन्त्र और हिंसा का मेल नहीं बैठ सकता। जो राज्य आज नाम के लिए प्रजातन्त्री है उन्हें या तो स्पष्ट रूप से तानाशाही का हामी हो जाना चाहिए, या अगर उन्हें सचमुच प्रजातन्त्री बनना है तो उन्हे साहस के साथ अहिंसक बन जाना चाहिए। यह कहना बिल्कुल वाहियात है कि अहिंसा का पालन केवल व्यक्ति ही कर सकते है, और राष्ट्र हर्गिज नहीं, जो व्यक्तियों से ही बने हैं।

'हरिजन-सेवक' : १२ नवम्बर, १९३८

: ४ :

यहूदियों का सवाल

मेरे पास ऐसे कई पत्र आये है, जिनमे फिलस्तीन के अरब-यहूदी प्रश्न पर तथा जर्मनी मे यहूदियों पर होनेवाले जुल्म के बारे मे मुझसे अपने विचार प्रकट करने के लिए कहा गया है। बड़ी झिझक के साथ मैं इस पेचीदा सवाल पर अपने विचार प्रकट करने का साहस करता हूँ।

यहूदियों से मेरी सहानुभूति है। दक्षिण अफ्रीका मे उनके साथ मेरा निकट का सम्बन्ध रहा है। उनमे से कुछ तो मेरे जिन्दगीभर के साथी ही बन गये। इन मित्रों के द्वारा ही मुझे उन जुल्म-ज्यादतियों का बहुत-कुछ पता लगा, जो लम्बे अर्से से इन लोगों को झेलनी पड़ रही हैं। ये तो ईसाइयों मे अछूत बने हुए है। ईसाइयों के द्वारा इनके साथ होनेवाला बर्ताव बहुत-कुछ उसी तरह का है जैसा कि सवर्ण हिन्दू अस्पृश्यों के साथ करते हैं। धर्म का सहारा, इस अमानुपिक बर्ताव के लिए, दोनों ही जगह लिया गया है। इसलिए यहूदियों के प्रति मेरी सहानुभूति का कारण उस मित्रता के अलावा यह एक सामान्य बात भी है।

लेकिन अपनी इस सहानुभूति के कारण, जो कुछ न्याय है उसकी तरफ से मै आँख नही मूँद सकता। यहूदियों के लिए 'राष्ट्रीय गृह' की पुकार मुझे कुछ बहुत आकर्षित नहीं करती। बाइबल के उल्लेख और फिलस्तीन लौटने के बाद यहूदियों को जिस तरह भटकना पडा है उसके कारण यह की जाती है। लेकिन दुनियाँ के अन्य लोगों की तरह, जिस देश मे जनमे और परवरिश पायें उसीको वे अपना घर क्यों नहीं बना लेते ?

फिलस्तीन तो उसी तरह अरबों का है जिस तरह कि इग्लैण्ड अग्रेजों का या फ्रॉस फ्रॉसीसियों का है। अरबों पर यहूदियों को लादना अनुचित और अमानुषिक है। सच तो यह है कि फिलस्तीन मे आज जो कुछ हो रहा है उसका किसी नैतिक नियम से समर्थन नहीं किया जा सकता। जहाँतक मैण्डेटों का सवाल है, वे तो पिछले महायुद्ध ही का परिणाम है। गर्वीले अरबों का बल इस प्रकार कम कर देना कि फिलस्तीन को आंशिक या पूरे रूप मे यहूदियों का राष्ट्रीय गृह बनाया जा सके, मानवता के प्रति एक अपराध कहा जायगा।

अच्छा तो यही होगा कि यहूदी जहा कहीं पैदा होकर परवरिश पाये वहीं उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार होने पर जोर दिया जाये, क्योंकि फ्रास मे पैदा होने वाले यहूदी भी ठीक उसी तरह फ्रॉसीसी हैं, जैसे कि फ्रॉस मे पैदा होनेवाले ईसाई फ्रासीसी हैं। अगर यहूदियों का फिलस्तीन के सिवा और कोई अपना घर न हो, तो क्या वे इस बात को पसन्द करेंगे कि

दुनिया के जिन अन्य भागों में वे बसे हुए हैं उनसे उन्हें जबरदस्ती हटा दिया जाय ? या वे दुहरा घर चाहते हैं, जहाँ कि वे अपनी इच्छानुसार रह सकें ? सच तो यह है कि राष्ट्रीय गृह की इस आवाज से यहूदियों के जर्मनी से निकाले जाने का किसी-न-किसी रूप में औचित्य ही सिद्ध हो जाता है।

लेकिन जर्मनी में यहूदियों को जिस तरह सताया जा रहा है वह इतिहास में बेजोड़ है। पहले के जालिम इतनी हदतक नहीं गये, जहाँतक कि हिटलर चला गया मालूम पड़ता है। फिर लुत्फ यह है कि वह मजहबी जोश के साथ यह सब पागलपन कर रहा है, क्योंकि वह निरंकुश और उग्र राष्ट्रीयता के एक नये राष्ट्र-धर्म का प्रतिपादन कर रहा है जिसके नाम पर कोई भी निर्दयता इहलोक और परलोक में स्तुत्य बन जाती है। एक ऐसे युवक के अपराध का जोकि स्पष्टतया पागल और दुस्साहसी था, ऐसी भयानकता के साथ उसकी सारी जाति से बदला लिया जा रहा है जिस पर विश्वास करना भी मुश्किल है। सच तो यह है कि मानवता के नाम पर और उसके लिए न्यायपूर्वक अगर कभी भी कोई युद्ध किया जा सकता है तो एक जाति का अबाधरूप से सताया जाना रोकने के लिए जर्मनी के साथ युद्ध छेड़ना सर्वथा न्यायसंगत है। लेकिन मैं तो किसी भी युद्ध में विश्वास नहीं करता। इसलिए ऐसे युद्ध के फलाफल पर विचार करना मेरा काम नहीं है।

लेकिन यहूदियों के साथ जो कुछ किया जा रहा है, ऐसे

अपराध के लिए भी अगर जर्मनी के साथ युद्ध नहीं छेड़ा जा सकता, तो भी जर्मनी के साथ कोई सन्धि या मेलजोल तो निश्चय ही नहीं हो सकता। जो राष्ट्र न्याय और प्रजातंत्र की हिमायत का दावा करता है उसका भला उस राष्ट्र के साथ कैसे मेल हो सकता है जो इन दोनों का साफ दुश्मन है? या फिर इंग्लैण्ड इस तरह के सशस्त्र अधिनायकत्व की ओर, उसके पूरे अर्थों मे, झुक रहा है?

जर्मनी ससार को दिखला रहा है कि हिंसा पर जब किसी धूर्तता या दया-मया की कमजोरी का कोई बाधक आवरण न हो तो वह कितनी कारगर हो सकती है। साथ ही, वह यह भी बतला रहा है कि अपने नंगे रूप मे यह कितनी कुरूप, भयानक और विकराल मालूम पडती है।

क्या यहूदी इस सगठित और निर्लज्ज अत्याचार का प्रतिरोध कर सकते है? क्या कोई ऐसा रास्ता है जिससे वे अपने को असहाय, उपेक्षित और कमजोर महसूस किये बगैर अपने स्वाभिमान को कायम रख सकें? मै कहता हूँ कि हाँ, है। ईश्वर में अटल विश्वास रखनेवाले किसी व्यक्ति को अपने को असहाय या लाचार समझने की आवश्यकता नहीं है। यहूदियों का ईश्वर यहोवा ईसाइयों, मुसलमानों या हिन्दुओं के ईश्वर से अधिक सगुण और वत्सल है, हालाँकि मूलत वह भी उन सब के समान अद्वितीय और वर्णनातीत है। लेकिन यहूदी ईश्वर को सगुण व्यक्ति मानते है और उनका विश्वास है कि उनके सब

कामों की वह देख-भाल रखता है, तो उन्हें अपने को असहाय नहीं समझना चाहिए। मैं अगर यहूदी होता और जर्मनी म मेरा जन्म हुआ होता और वहीं मै अपनी रोजी कमाता होता, तो मैं उसी तरह जर्मनी को अपना स्वदेश मानने का दावा करता जैसे कि कोई बड़े-से-बडा जर्मन कर सकता है और गोली से उड़ाये जाने या कालकोठरी मे दफना दिये जाने का खतरा मोल लेकर भी मै वहाँसे निकलने से इन्कार कर देता और अपने साथ भेदभाव का बर्ताव होने देना स्वीकार करता, और ऐसा करने के लिए मैं इस बात का इन्तजार न करता कि दूसरे यहूदी भी सविनय अवज्ञा मे मेरा साथ दें, बल्कि यह विश्वास रखता कि दूसरे मेरे उदाहरण का अनुसरण अपने-आप करेंगे। मैंने जो यह नुसखा बतलाया है इसे एक या सब यहूदी स्वीकार करलें, तो उसकी या उनकी अब से ज्यादा बदतर हालत नहीं होगी। बल्कि स्वेच्छापूर्वक कष्ट-सहन से उनमे एक ऐसा आन्तरिक बल और आनन्द पैदा होगा जो जर्मनी के बाहर दुनियाभर मे सहानुभूति के चाहे जितने प्रस्ताव पास होने से भी पैदा नहीं हो सकता। यह आन्तरिक बल और आन्तरिक आनन्द तो जर्मनी के खिलाफ ब्रिटेन, फ्रास और अमेरिका युद्ध-घोषणा करदें तब भी पैदा नहीं हो सकता, यह निश्चित है। बल्कि ऐसे युद्ध की घोषणा के जवाब मे हिटलर की नापी-जोखी हुई हिंसा के फलस्वरूप सबसे पहले कहीं यहूदियों का कत्लेआम न कर दिया जाय। लेकिन अगर यहूदियों का मस्तिष्क स्वेच्छा-

पूर्वक कष्ट-सहन के लिए तैयार हो सके तो ऐसा हत्याकाण्ड भी इस तरह के अभिनंदन और आनन्द का दिन बन सकता है कि यहोवा ने अपनी जाति को मोक्ष प्रदान कर दिया, फिर वह चाहे जालिम के ही हाथों क्यों न हो। ईश्वर से डरनेवालों के लिए मौत का भय नहीं होता। यह तो ऐसी आनन्दपूर्ण निद्रा है, जिसके अन्त मे उत्साहप्रद जागरण ही होता है।

यह कहने की तो शायद ही जरूरत हो कि मेरे नुसखे पर चलना चेकों की बनिस्बत यहूदियों के लिए कहीं आसान है। दक्षिण अफ्रीका के भारतीय सत्याग्रह-आन्दोलन का उदाहरण भी उनके सामने है, जो कि बिलकुल इसी तरह का था। वहा भारतीयों की लगभग वही स्थिति थी जो जर्मनी मे आज यहूदियों की है। उस अत्याचार को कुछ मजहबी रग भी दिया हुआ था। प्रेसिडेण्ट क्रूगर अक्सर यह कहा करते थे कि गोरे ईसाई ईश्वर की चुनी हुई श्रेष्ठ कृति है और भारतीय उनसे नीचे दर्जे के हैं जिनकी उत्पत्ति गोरों की सेवा के ही लिए हुई है। ट्रासवाल के शासन-विधान मे एक बुनियादी धारा यह थी कि गोरों और रंगीन जातियों मे, जिनमे कि एशियाई भी शामिल है, कोई समानता नहीं होनी चाहिए। वहाँ भी भारतीयों को अलग बस्तियों मे बसाया गया था। दूसरी असुविधाएँ भी करीब-करीब वैसी ही थीं जैसी कि जर्मनी मे यहूदियों को हैं। भारतीयों ने, जिनकी तादाद मुट्ठीभर ही थी, बाहरी दुनिया या भारतीय सरकार के किसी सहारे के बिना उसके विरुद्ध सत्याग्रह किया। ब्रिटिश

अधिकारियों ने निस्सदेह सत्याग्रहियों को अपने निश्चय से हटाने की कोशिश की। ससार को लोकमत और भारत सरकार तो आठ बरस की लडाई के बाद उनके सहायक हुए—और, तब भी लड़ाई की कोई धमकी न देकर खाली राजनैतिक दबाव ही डाला गया।

दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की बनिस्बत जर्मनी के यहूदियों के लिए सत्याग्रह करने का वातावरण कहीं ज्यादा अनुकूल है क्योंकि जर्मनी मे यहूदियों की एक ही समानजाति है, दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की बनिस्बत वे कहीं अधिक योग्य हैं और उनके पीछे ससार का सगठित लोकमत है। मुझे इस बात का इतमीनान है कि उनमे से कोई साहस और दूरदर्शिता के साथ अहिंसात्मक आन्दोलन नेतृत्व करने के लिए उठ खडा हो तो उनकी वर्तमान निराशा जल्दी ही आशा मे परिणत हो सकती है। और आज जो मनुष्यों का बुरी तरह शिकार हो रहा है वह ऐसे स्त्री-पुरुषों के शान्त किंतु दृढ़ मुकाबले का रूप धारण कर लेगा जो हारेंगे तो निरस्त्र, पर जिनके पीछे यहोवा की दी हुई कष्ट-सहन की शक्ति होगी। मानवता से ही मनुष्यों के राक्षसी अत्याचार के खिलाफ तब यह एक सच्चा धार्मिक प्रतिरोध होगा। जर्मनी के यहूदी जर्मनी पर इस रूप में स्थायी विजय प्राप्त करेंगे कि जर्मनी के अनार्यों को वे मानवीय प्रतिष्ठा की कद्र करना सिखला देंगे। वे अपने साथी जर्मनों की सेवा करेंगे और यह सिद्ध कर देंगे कि असली जर्मन वे हैं, न कि वे जो चाहे अन-जाने ही पर आज जर्मन नाम पर धब्बा लगा रहे हैं।

एक शब्द फिलस्तीन में रहनेवाले यहूदियों से भी। वे गलत रास्ते पर जा रहे हैं, इसमे मुझे कोई शक नहीं। बाइबल में जिस फिलस्तीन की कल्पना है वह कोई भौगोलिक प्रदेश नहीं है। वह तो उनके दिलों में बसा हुआ है। लेकिन अगर भौगोलिक फ़िलस्तीन को ही अपना राष्ट्रीय घर समझना आवश्यक हो, तो भी ब्रिटिश तोपों के सरक्षण मे उसमे प्रवेश करना ठीक नहीं है। क्योंकि बम या सगीनों की मदद से कोई धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता। फिलस्तीन मे अगर उन्हें बसना है तो केवल अरबों की सद्भावना पर ही वे वहाँ बस सकते हैं। अत अरबों का हृदय-परिवर्तन करने की उन्हें कोशिश करनी चाहिए। अरबों के हृदय मे भी वही ईश्वर निवास करता है, जो कि यहूदियों के हृदय में वस रहा है। अरबों के आगे वे सत्याग्रह कर सकते है। उनके खिलाफ कोई अँगुली भी उठाये बगैर, उनके द्वारा गोली से मार डाले जाने या मृतसमुद्र मे फेंक दिये जाने को वे तैयार रहें। ऐसा हुआ तो वे देखेंगे कि ससार का लोकमत उनकी धार्मिक आकाक्षा के भी पक्ष मे हो जायगा। ब्रिटिश सगीनों की मदद का आश्रय छोड दिया जाय, तो अरबों से तर्क-वितर्क करने के, दलीलों से उन्हें समझाने-बुझाने के, सैकडों तरीके है। इस समय तो वे ब्रिटिशों के साथ उस प्रजा को मिटाने मे साझीदार हो रहे हैं जिसने उनके साथ कोई बुराई नहीं की है।

अरबों द्वारा की जानेवाली ज्यादतियों की मै हिमायत नहीं करता। जिसको वे अपने देश की स्वतत्रता मे अनुचित हस्तक्षेप

समझते हैं उसके प्रतिरोध के लिए उन्होंने अहिंसा का रास्ता चुना होता तो क्या अच्छा होता। लेकिन सही और गलत के स्वीकृत अर्थों मे, बहुत-सी विरोधी बातों के बावजूद, अरब-प्रतिरोध के विरुद्ध कुछ नहीं कहा जा सकता।

यहूदी अपने को ईश्वर की चुनी हुई जाति कहते हैं। उन्हें चाहिए कि दुनिया मे अपनी स्थिति की रक्षा के लिए अहिंसा के रास्ते को पसन्द करके अपने विशेषण को सही साबित करें। हरेक देश, यहातक कि फिलस्तीन भी, उनका घर है, लेकिन आक्रमण द्वारा नहीं बल्कि प्रेमपूर्ण सेवा के द्वारा। एक यहूदी मित्र ने सेसिल रॉथ की लिखी किताब 'जगत् की सभ्यता मे यहूदियों की देन' मेरे पास भेजी है। ससार के साहित्य, कला, सगीत, नाटक, विज्ञान, वैद्यक, कृषि इत्यादि को समृद्ध करने के लिए यहूदियों ने क्या-क्या किया है, यह सब इसमे बतलाया गया है। यहूदी चाहें तो पश्चिम के अस्पृश्य बनने से, दूसरों से सरक्षण और हिकारत पाने से इन्कार कर सकते हैं। पशुबल के आगे तेजी से खत्म और ईश्वर से परित्यक्त होते हुए मनुष्यों के बजाय ईश्वर की चुनी हुई कृतिवाले मनुष्य बनकर वे ससार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं और सम्मान भी प्राप्त कर सकते हैं। यही नहीं, अपनी अनेक देनों मे वे अहिसात्मक कार्य की अपनी सबसे बडी देन भी शामिल कर सकते हैं।

'हरिजन-सेवक' ३ दिसम्बर, १६३८

: ५ :

जर्मन आलोचकों को गांधीजी का जवाब

['हरिजन' में प्रकाशित गांधीजी के "यहूदियों का सवाल" शीर्षक लेख की हाल में जर्मनपत्र 'नागोसगावे' में जर्मनी के एक लेखक ने जो आलोचना की है, उसके जवाब में गांधीजी ने 'स्टेट्समैन' के संवाददाता को नीचे लिखा विशेष संदेश दिया है—स०]

यहूदियों के प्रति जर्मनों के वर्ताव के बारे में मैंने जो लेख लिखा था उस पर जर्मनी ने जो रोष जाहिर किया है उसके लिए, यह बात नहीं कि, मैं तैयार नहीं था। यूरोप की राजनीति के बारे में अपनी अज्ञानता तो मैं खुद ही स्वीकार कर चुका हूँ। पर यहूदियों की बहुत-सी मुसीबतों को दूर करने के अर्थ उन्हें अपना उपाय सुझाने के लिए यूरोपियन राजनीति के सही ज्ञान की मुझे जरूरत भी नहीं थी। उनपर तो जुल्म हुए हैं, उनके बारे की मुख्य हकीकतें बिल्कुल निर्विवाद हैं। मेरे लेख पर पैदा हुआ रोष जब दब जायगा, और खामोशी छा जायगी, तब अत्यन्त क्रुद्ध जर्मन को भी यह मालूम हो जायगा कि मेरे लेख की तह में जर्मनी के प्रति मित्रता की ही भावना थी, द्वेष की हर्गिज नहीं।

क्या मैंने बार-बार यह नहीं कहा है कि विशुद्ध प्रेम—बन्धत्व

या समत्व की भावना ही असली अहिंसा है ? और यहूदी लोग असहायावस्था और आवश्यकतावश मजबूरी से अहिंसा को ग्रहण करने के बजाय अगर असली अहिंसा, याने गैरयहूदी जर्मन के प्रति जान-बूझकर बन्धुत्व की भावना को अपना लें, तो मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि जर्मनों का दिल पसीज जायगा। इसमे शक नहीं कि ससार की प्रगति मे यहूदियों की बहुत बडी देन है, लेकिन उनका यह महान कार्य उनकी सबसे बड़ी देन होगी और युद्ध एक अतीत की चीज बन जायगा।

यह बात मेरी समझ मे ही नहीं आती कि मैंने जो बिलकुल निर्दोष लेख लिखा था, उस पर कोई जर्मन क्यों नाराज हो ? निस्सन्देह, जर्मन आलोचक भी दूसरों की तरह यह कहकर मेरा मजाक उड़ा सकते थे कि यह तो एक स्वप्नदर्शी का प्रयत्न है, जिसका असफल होना निश्चित है। इसलिए मै उनके इस रोष का स्वागत ही करता हूँ, हालाँकि मेरे लेख को देखते हुए उनका यह रोष बिलकुल नामुनासिब है।

क्या मेरे लेख का कोई असर हुआ है ? क्या लेखक को यह लगा है कि मैंने जो उपाय सुझाया है, वह ऊपर से जैसा हास्यास्पद दीखता है असल मे वैसा हास्यास्पद नहीं बल्कि बिल्कुल व्यावहारिक है ? काश, कि बदले की भावना के बगैर कष्ट-सहन के सौन्दर्य को हम समझ लें। मैंने यह लेख लिखकर अपनी, अपने आन्दो-लन की और जर्मन-भारतीय सम्बन्धों की कोई भलाई नहीं की है, इस कथन मे धमकी भरी हुई है। यह कहना अनुचित भी न

हो, तो भी अप्रासगिक तो जरूर है। और जिसे मै अपने अन्त-र्तम मे सौ फी सदी सलाह समझता हूॅ उसे, अपने देश या अपने या जर्मन-भारतीय सम्बन्धों पर कोई आँच आने के भय से, देने में पशोपेश करूँ, तो मुझे अपने को कायर ही समझना चाहिए।

बर्लिन के लेखक ने निश्चय ही यह एक अजीब सिद्धान्त निकाला है कि जर्मनी के बाहर के लोगों को जर्मन कामों पर टीका-टिप्पणी नही करनी चाहिए, फिर ऐसा अत्यधिक मित्रता के भाव से ही क्यों न किया जाय। अपनी तरफ से तो मैं निश्चय ही उन दिलचस्प बातों का स्वागत करूँगा जो जर्मन या दूसरे बाहरी लोग हिन्दुस्तानियों के बारे में हमे बतलायेंगे। अंग्रेजों की ओर से कुछ कहने की मुझे कोई जरूरत नही है। लेकिन ब्रिटिश प्रजा को, अगर मैं थोडा भी जानता हूॅ, तो वह भी ऐसी बाहरी आलोचना का स्वागत ही करेगी, जो अच्छी जानकारी के साथ की जाय और जो द्वेष से मुक्त हो। इस युग मे, जब कि दूरी की कोई कठिनाई नहीं रही है, कोई भी राष्ट्र 'कूपमण्डूक' बनकर नहीं रह सकता। कभी-कभी तो दूसरों के दृष्टिकोण से अपने को देखना बड़ा लाभकारक होता है। इसलिए अगर कहीं जर्मन आलोचकों की नजर मेरे इस जवाब पर पडे, तो मै उम्मीद करता हूॅ कि वे मेरे लेख के बारे मे न केवल अपनी राय ही बदल देंगे, बल्कि साथ ही बाहरी आलोचना के महत्व को भी महसूस करेंगे।

'हरिजन, -.b' · १० दिसम्बर १९३८

: ६ :

आलोचनाओं का जवाब

कुछ मित्रों ने मेरे पास अखबारों की दो कतरनें भेजी हैं, जिनमे यहूदियों से की गई मेरी अपील की आलोचना है। दोनों आलोचकों का कहना है कि यहूदियों के साथ जो अन्याय हो रहा है उसके प्रतिकार के लिए अहिंसा का उपाय सुझाकर मैंने कोई नई वात उनके सामने नहीं रक्खी, क्योंकि पिछले दो हजार वरसों से स्पष्टतया वे अहिसा का ही तो पालन कर रहे हैं। जहाँतक इन आलोचकों का सम्बन्ध है, मैंने अपना आशय स्पष्ट नहीं किया। पर, जहाँतक मैं जानता हूँ, यहूदियोंने अहिसा को अपना ध्येय, या मुक्ति की नीति भी वनाकर उसका पालन कभी नहीं किया। निस्सन्देह, उनके ऊपर यह कलक लगा हुआ है कि उनके पूर्व-पुरुषों ने ईसामसीह को सूली दे दी थी। क्या यह नहीं समझा जाता कि वे 'जैसे के साथ तैसे' की नीति मे विश्वास करते हैं? अपने ऊपर अत्याचार करनेवालों के प्रति क्या उनके दिलों मे हिंसा का भाव नहीं है? क्या वे यह नहीं चाहते कि उनपर होनेवाले अत्याचार के लिए तथाकथित

लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र जर्मनी को दण्ड दे और उन्हें उसके अत्याचार से मुक्त करदें ? अगर वे ऐसा चाहते हैं, तो उनके दिलों मे अहिंसा नहीं है। उनके अन्दर तथाकथित अहिंसा हो भी, तो वह कमजोर और असहायों की अहिंसा है।

मैंने जिस बात पर जोर दिया है वह तो यह है कि दिल से भी हिंसा निकाल दी जाय और इस महान् त्याग से पैदा हुई शक्ति को काम मे लाया जाय। एक आलोचक का कहना यह है कि अहिंसात्मक रूप मे काम करने के लिए उसके पक्ष मे लोकमत का होना जरूरी है। स्पष्टतया ऐसा लिखते हुए उनके खयाल मे निष्क्रिय प्रतिरोध ही है, जिसे कमजोरों का शस्त्र समझा जाता है। लेकिन मैंने कमजोरों के निष्क्रिय प्रतिरोध और बलवानों के अहिंसात्मक प्रतिरोध मे फर्क रक्खा है। इसमे से पिछला भयकर-से-भयकर विरोध के बावजूद काम कर सकता है और करता है। लेकिन इसका अन्त अधिक-से-अधिक सार्वजनिक सहानुभूति के साथ होता है। यह हम जानते है कि अहिंसात्मक रूप मे कष्ट सहन करने से सगदिल भी पसीज जाते हैं। मै यह कहने का साहस करता हूँ कि यहूदी अगर उस आत्म-शक्ति की मदद पा सकें, जो केवल अहिंसा से प्राप्त होती है, तो हेर हिटलर उनके ऐसे साहस के सामने, कि जैसा उन्होंने किसीके साथ पेश आने मे बड़े पैमाने पर कभी नहीं देखा, सिर झुका देंगे और वह इस बात को तसलीम करेंगे कि वह उनके सर्वोत्तम तूफानी सैनिकों की वीरता से भी बढ़कर है।

लेकिन ऐसा साहस वे ही दिखा सकते है जिनका सत्य और अहिसा अर्थात् प्रेम के देवता मे जीता-जागता विश्वास हो।

निस्सन्देह, आलोचक यह दलील दे सकते है कि मैने जिस अहिसा का चित्रण किया है वह सर्वसाधारण मनुष्यों के लिए सम्भव नहीं है, बल्कि सिर्फ बहुत थोड़े-से, बहुत ऊँचे, पहुँचे हुए मनुष्यों के लिए ही सम्भव है। लेकिन मैंने इस विचार के खिलाफ हमेशा यह कहा है कि उपयुक्त शिक्षण और नेतत्व मिलने पर सर्वसाधारण भी अहिसा का पालन कर सकते है।

फिर भी मैं यह देखता हूँ कि मेरे कहने का यह गलत अर्थ लगाया जा रहा है कि मैने पीडित यहूदियों को अहिसात्मक प्रतिरोध की सलाह दी है। इसलिए लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रों को मै यहूदियों की ओर से हस्तक्षेप न करने की सलाह दूँगा। मुझे इस आशका का जवाब देने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि मेरे कुछ कहने के कारण बड़े-बडे राष्ट्र कोई कार्रवाई करने से रुकें, निश्चय ही ऐसा कोई खतरा नहीं है। यहूदियों को अमानुषक अत्याचारों से मुक्त करने के लिए जो कुछ वे कर सकते है वह तो वे करेंगे ही, क्योंकि ऐसा करने के लिए वे विवश है। मेरी अपील का जोर तो इसी बात मे है कि शक्तिशाली राष्ट्र प्रभावकारी रूप मे यहूदियों की मदद करने मे अपने को असहाय समझते है। इसलिए मैने यह उपाय पेश किया है जो, अगर ठीक ढग से ग्रहण किया जाय तो, मेरी समझ मे अचूक है।

मगर इस पर सबसे ज्यादा उचित आक्षेप तो यह है कि जब

मै यह जानता हूँ कि हिन्दुस्तान मे ही, जहाँ कि मै खुद काम कर रहा हूँ और जहाँ अपने को सेनापति मानता हूँ, इसे ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया गया है; तो फिर यहूदियों से इसे स्वीकार कराने की आशा कैसे की जा सकती है ?

मेरा जवाब यह है कि वे लोग धन्य है जो किसी बात की आशा नहीं करते। कम-से-कम इस मामले मे मैं उन्हींकी श्रेणी मे हूँ, क्योंकि यह नुस्खा पा जाने और इसके असर के बारे मे निश्चय हो जाने पर मुझे ऐसा लगा कि प्रभावशाली रूप मे उस पर अमल हो सकने की भी सूरत देखते हुए मै इस तरफ ध्यान न खींचूँ, तो वह मेरी गलती होगी।

अभीतक यूरोप की राजनीति की चर्चा करने से मैं बचता ही रहा हूँ। मेरी सामान्य स्थिति अब भी वही है। अबीसीनिया के मामले मे लगभग दबी हुई आवाज में मैने यह उपाय पेश किया था। चेकों और यहूदियों का मामला मुझे अबीसीनियनों से भी अधिक स्पष्ट मालूम पडा। इसलिए मै इस बारे मे लिखे बिना न रह सका। डा० मॉटने उस दिन मुझसे शायद यह ठीक ही कहा था कि चेकों और यहूदियों के बारेमे मैंने जैसे लेख लिखे वैसे मुझे ज्यादा-से-ज्यादा लिखते जाना चाहिए, क्योंकि और कुछ नही तो इनसे हिन्दुस्तान की लड़ाई मे तो मुझे मदद मिलेगी ही। और अहिंसा का सन्देश सुनने के लिए इस समय पश्चिमी राष्ट्र जितने तैयार है उतने इससे पहले कभी न थे।

'हरिजन-सेवक' १७ दिसम्बर, १९३८

: ७ :

क्या अहिंसा बेकार गयी ?

अपने लेख पर हुई इस आलोचना का कि यहूदी तो पिछले २,००० वर्ष से अहिंसक ही रहे हैं, मैंने जो जवाब दिया था, उस पर एक सम्पादकीय लेख मे 'स्टेट्समैन' ने लिखा है :—

"पास्टर नीमोलर और लूथेरन चर्च पर हुए अत्याचारों की बात सारी दुनिया को मालूम है, अनेक पास्टरो और साधारण ईसाइयो ने पोप की अदालतों, हिंसा और धमकियों के कष्टों को बहादुरी के साथ बर्दाश्त किया और बदले या प्रतिहिंसा का ख़याल किये बिना वे सत्य पर डटे रहे। लेकिन जर्मनी में कौन-सा हृदय-परिवर्तन नज़र आता है ? बाइबल के रास्ते चलने-वाले सघो ('बाइबल सरचर्स लीगों') के जिन सदस्यो ने नाज़ी सैनिकवाद को ईसा के शान्ति-सदेश का विरोधी मानकर ग्रहण नही किया, वे आज जेलख़ानो और नज़रबन्द-कैम्पों मे पडे सड रहे है और पिछले पॉच सालो से उनकी यही दुर्दशा हो रही है। कितने जर्मन ऐसे हैं, जो उनके बारे मे कुछ जानते हैं, या जानते भी हैं तो उनके लिए कुछ करते हैं ?

अहिंसा चाहे कमज़ोरों का शस्त्र हो या बलवानों का, जिन्हें अत्यन्त विशेष परिस्थितियों के अलावा वह सामाजिक के बजाय व्यक्तिगत प्रयोग की ही चीज मालूम पडती है। मनुष्य अपनी खुद की मुक्ति के लिए प्रयत्न करता रहे, राजनीतिज्ञों का सम्बन्ध तो कारणों, सिद्धान्तों और अल्पसंख्यकों से है। गांधीजी का कहना है कि 'हेर हिटलर को उस साहस के सामने झुकना पडेगा जो उसके अपने तूफानी सैनिकों द्वारा प्रदर्शित साहस से निश्चितरूपेण श्रेष्ठ है।' अगर ऐसा होता, तो हम सोचते कि हेर वॉन ओसीट्ज़के जैसे मनुष्य की उन्होंने ज़रूर तारीफ की होगी। मगर नाजियों के लिए साहस इसी हालत में गुण मालूम पडता है कि जब उनके अपने ही समर्थक उससे काम लें, अन्यत्र वह 'मार्क्सवादी-यहूदियो की धृष्टतापूर्ण उत्तेजना, हो जाता है। गांधीजी ने इस विषय में कारगर रूप में कुछ करने में बडे-बडे राष्ट्रों के असमर्थ होने के कारण अपना नुसख़ा पेश किया है—यह ऐसी असमर्थता है जिसके लिए हम सबको अफसोस है और हम सब चाहते हैं कि यह न रहे। यहूदियों को उनकी सहानुभूति से चाहे बडा आश्वासन मिले, लेकिन उनकी वृद्धि मे इससे ज्यादा मदद मिलने की सम्भावना नही है। ईसामसीह का उदाहरण अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है और उनको जिस बुरी तरह मारा गया उससे हमेशा के लिए यह सिद्ध हो गया है कि सासारिक और भौतिक रूप मे यह बडी बुरी तरह असफल हो सकती है।"

मै तो यह नहीं समझता कि पास्टर नीमोलर और दूसरे

व्यक्तियों का कष्ट-सहन बेकार साबित हुआ है। उन्होंने अपने स्वाभिमान को कायम रखा है और यह साबित कर दिया है कि उनकी श्रद्धा किसी भी कष्ट-सहन से विचलित नहीं हो सकती। हेर हिटलर के दिल को पिघलाने के लिए ये काफी साबित नहीं हो सके, इससे केवल यही जाहिर होता है कि हेर हिटलर का दिल पत्थर से भी अधिक कठोर चीज का बना हुआ है। मगर, सख्त-से-सख्त दिल भी अहिंसा की गर्मी से पिघल जायगा और इस हिसाब से अहिंसा की ताकत की तो कोई सीमा ही नहीं।

हरेक कार्य बहुत-सी ताकतों का परिणाम होता है, चाहे वे एक-दूसरे के विरुद्ध असर करनेवाली ही क्यों न हों। ताकत कभी नष्ट नहीं होती। यही हम मैकेनिक्स की किताबों मे पढ़ते है। मनुष्य के कामों मे भी यह उसी तरह से लागू है। असल मे बात यह है कि एक मामले मे हमे आम तौर पर यह मालूम होता है कि वहाँ कौन-कौन-सी ताकतें काम कर रही हैं और ऐसी हालत मे हम हिसाब लगाकर उसका नतीजा भी पहले ही से बता सकते है। जहाँतक मनुष्य के कामों का ताल्लुक है, वे ऐसी मुख्तलिफ ताकतों के परिणाम होते हैं, कि जिनमे से बहुत-सी ताकतों का हमे इल्म तक नहीं होता।

लेकिन हमे अपने अज्ञान को इन ताकतों की क्षमता मे अविश्वास करने का कारण नहीं बनाना चाहिये। होना तो यह चाहिये कि अज्ञान के कारण हमारा इसमे और भी ज्यादा विश्वास हो जाये। चूंकि अहिंसा दुनिया की सबसे बड़ी ताकत है और

काम भी यह बहुत छुपे ढंग से करती है, इसलिए इसमें बहुत भारी श्रद्धा रखने की जरूरत है। जिस तरह हम ईश्वर में श्रद्धा रखना अपना धर्म समझते हैं, उसी तरह अहिंसा में श्रद्धा रखना भी धर्म समझना चाहिये।

हेर हिटलर केवल एक आदमी ही तो हैं और उनकी जिंदगी एक औसतन आदमी की नाचीज जिंदगी से बड़ी नहीं है। अगर जनता ने उनका साथ देना छोड़ दिया, तो उनकी ताकत एक नष्ट ताकत होगी। मानव-समाज के कष्ट-सहन का उनकी तरफ से कोई जवाब न मिलने पर मैं निराश नहीं हुआ हूँ। मगर, मैं यह नहीं मान सकता कि जर्मनों के पास दिल नहीं है, या संसार की दूसरी जातियों की अपेक्षा वे कम सहृदय हैं। वे एक-न-एक दिन अपने नेता के खिलाफ़ विद्रोह कर देंगे, अगर समय के अन्दर उसकी आँखें न खुलीं और जब वे ऐसा करेंगे तब हम देखेंगे कि पास्टर नीमोलर और उसके साथियों की मुसीबतों और कष्ट-सहन ने जागृति पैदा करने में कितना काम किया है।

सशस्त्र संघर्ष से जर्मन हथियार नष्ट किये जा सकते हैं, पर जर्मनी के दिल को नहीं बदला जा सकता, जैसा कि पिछले महायुद्ध में हुई हार नहीं कर सकी। उसने एक हिटलर पैदा किया, जो विजयी राष्ट्रों से बदला लेने पर तुला हुआ है। और यह बदला किस तरह का है? इसका जवाब वही होना चाहिये जो स्टीफेन्सन ने अपने उन साथियों को दिया था, जो गहरी खाई को पाटने से हताश हो गये थे और जिससे पहले रेलवे का निकलना

मुमकिन हो गया था। उसने अपने साथियों से, जिनमें विश्वास की कमी थी, कहा—"विश्वास बढ़ाओ और गढ़े को भरे चले जाओ। वह अथाह नहीं है, इसलिए वह जरूर भर जायगा।" इसी तरह मैं भी इस बात से मायूस नहीं हुआ हूँ कि हेर हिटलर या जर्मनी का दिल अभीतक नहीं पिघला है। इसके विरुद्ध मैं यही कहूँगा कि मुसीबतों पर मुसीबतें सहते चले जाओ, जबतक कि अन्धे को भी यह नजर आने लगे कि दिल पिघल गया है। जिस तरह पास्टर नीमोलर की मुसीबतें बर्दाश्त करने के कारण शान बढ गई है, उसी तरह अगर एक यहूदी भी बहादुरी के साथ डटकर खड़ा हो जाय और हिटलर के हुक्म के आगे सर झुकाने से इन्कार कर दे, तो उसकी शान भी बढ़ जायगी और अपने भाई यहूदियों के लिए मुक्ति का रास्ता साफ कर देगा।

मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा सिर्फ व्यक्तिगत गुण नहीं है बल्कि एक सामाजिक गुण भी है जिसे दूसरे गुणों की तरह विकसित करना चाहिए। इसमें कोई शक नहीं कि समाज अपने आपस के कारोबार मे अहिंसा का प्रयोग करने से ही व्यवस्थित होता है। मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि इसे एक बड़े राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर काम मे लाया जाये।

मै 'स्टेट्समैन' द्वारा जाहिर की गई इस राय से सहमत नहीं हूँ कि हजरत ईसा की मिसाल ने हमेशा के लिए यह साबित कर दिया कि अहिंसा सासारिक बातों मे नाकामयाब साबित होती है। हालांकि मैं जाति-पॉति के दृष्टिकोण से अपने आपको ईसाई

नहीं कह सकता, मगर ईसा ने अपनी कुर्बानी से जो उदाहरण कायम किया है, उससे मेरी अहिंसा में अखंड श्रद्धा और भी बढ़ गई है और अहिंसा के इसी सिद्धांत के अनुसार ही मेरे तमाम धार्मिक और सांसारिक काम होते हैं। मुझे यह भी मालूम है कि सैकड़ों ईसाई ऐसे हैं, जिनका ऐसा ही विश्वास है। अगर ईसा ने हमें अपने तमाम जीवन को विश्व-प्रेम के सनातन सिद्धान्त के अनुसार बनाने का सन्देश नहीं दिया, तो उनका जीवन और बलिदान बेकार है।

'हरिजन-सेवक' १४ जनवरी, १९३९

: ८ :

क्या करें

एक प्रिंसिपल ने, जो अपना नाम जाहिर नहीं करना चाहते, नीचे लिखा महत्त्वपूर्ण पत्र भेजा है :—

"निम्नलिखित आवश्यक प्रश्नों को हल करने के लिए क्षुब्ध मन दूसरों की तर्क-संगत सम्मति चाहता है—शान्ति-संघ ("पीस प्लेज यूनियन", जिसे किसी भी परिस्थिति में हिंसा का आश्रय लेने से इन्कार करके युद्ध का विरोध करने के लिए स्वर्गीय डिक शेफर्ड ने क़ायम किया था) की प्रतिज्ञा का पालन करना क्या हमारे संसार की मौजूदा हालत में ठीक और व्यावहारिक तरीका है ?

'हाँ' के पक्ष में नीचे लिखी दलीलें हैं :—

(१) संसार के महान् आध्यात्मिक शिक्षकों ने अपने आचरण द्वारा हमें यह शिक्षा दी है कि किसी बुराई का अन्त केवल अच्छे उपायों से ही हो सकता है, बुरे उपायों से हरगिज़ नहीं, और किसी भी तरह की हिंसा (ख़ासकर युद्ध की, चाहे वह एकमात्र तथाकथित आत्मरक्षण के लिए ही क्यों न हो) निस्सन्देह बुरा उपाय ही है, फिर उसका उद्देश्य चाहे कुछ भी हो। इसलिए हिंसा का प्रयोग तो

सदा ही गलत है।

(२) वर्त्तमान हिंसा और मुसीबत के वास्तविक कारण युद्ध से कभी दूर नहीं हो सकते। 'युद्ध का अन्त करने के लिए' होने वाले पिछले युद्ध ने यह बात भलीभाँति सिद्ध करदी है और यही हमेशा सत्य रहेगी। इसलिए, हिंसा का प्रयोग अव्यावहारिक है।

(३) जो लोग यह महसूस करते हैं कि (वे चाहे छोटी-छोटी बातों के लिए न लडें, फिर भी) स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए तो उन्हें लडना ही चाहिए, वे भ्रम में हैं। मौजूदा परि-स्थितियों में युद्ध का अंत चाहे विजय में ही क्यों न हो, फिर भी उससे हमारी रही-सही स्वतन्त्रताओं का उससे भी अधिक निश्चित रूप में अन्त होजाता है, जितना कि किसी आक्रमणकारी की जीत से होता। क्योंकि आजकल सफलता के साथ कोई युद्ध तबतक नहीं लडा जा सकता, जबतक कि सारी जनता को फौजी न बना डाला जाय। उस फौजी समाज में, जो कि दूसरे युद्ध के फलस्वरूप जरूर पैदा होगा, चाहे जीत उसमें किसी की क्यों न रहे, वधक बन-कर रहने की अपेक्षा जान-बूझकर अहिंसात्मक रूप में अत्याचार का प्रतिरोध करते हुए मरजाना कहीं बेहतर है।

'नहीं' के पक्ष में नीचे लिखी दलीलें हैं —

(१) अहिंसात्मक प्रतिरोध उन लोगों के मुकाबले में ही कारगर हो सकता है, जिनपर कि नैतिक और दया-माया के विचारों का असर पड सकता है। फासिज्म पर ऐसी बातों का न केवल कोई असर ही नहीं पडता, बल्कि फासिस्ट लोग खुलेआम

उसे कमज़ोरी का निशान बतला कर उसकी खिल्ली भी उड़ाते हैं। सब तरह के प्रतिरोध को ख़त्म करने मे किसी पसोपेश की, या उसके लिए चाहे जितनी पाशविकता से काम लेने की वह परवा नहीं करता। इसलिए फासिज्म के आगे अहिंसात्मक प्रतिरोध ठहर नही सकेगा। अतएव अहिंसात्मक प्रतिरोध वर्तमान परिस्थितियो मे बुरी तरह अव्यावहारिक है।

(२) लोकतन्त्रीय स्वतंत्रता की रक्षा के लिए होनेवाले हिंसात्मक प्रतिरोध मे (याने युद्ध या युद्ध की आम लाज़िमी भर्ती के समय) सहयोग देने से इन्कार करना एक तरह से उन्ही लोगो की मदद करना है, जो स्वतत्रता को नष्ट कर रहे हैं। फासिस्ट आक्रमण को निस्सन्देह इस बात से बड़ा उत्तेजन मिला है कि प्रजातन्त्र मे जनता के ऐसे आदमी भी रहे हैं। जो अपनी रक्षा के लिए लड़ना नही चाहते और जो युद्ध होने पर भी अपनी सरकारो का विरोध करेंगे और इस प्रकार युद्ध शुरू होने या किसी तरह की लाज़िमी सैनिक भर्ती होने पर अपनी सरकारो की निन्दा करेंगे (और इस प्रकार रुकावट चाहेंगे)। ऐसी हालत में, रक्षा के हिंसात्मक उपायों पर जान-बूझकर आपत्ति करनेवाला न केवल शान्ति-वृद्धि मे अप्रभावकारी रहता है, बल्कि वस्तुत जो लोग उसे भग कर रहे हैं उनकी मदद करता है।

(३) युद्ध स्वतत्रता को भले ही नष्ट कर दे, लेकिन अगर प्रजातन्त्र बरकरार रहे तो कम-से-कम उसका कुछ अश फिर से प्राप्त करने की कुछ सम्भावना तो रहती है, जबकि फासिस्टों को

अगर संसार का शासन करने दिया जाये तो उसकी बिलकुल कोई गुंजाइश ही नहीं है। इसलिए युद्ध पर अन्तःकरण से आपत्ति करनेवाले लोग लोकतन्त्रात्मक शक्तियों को कमजोर करते हुए विरोधियों की मदद करके अपने ही उद्देश्य को नष्ट कर रहे हैं।

लाजिमी सैनिक भर्तीवाले किसी भी देश मे, यहाँतक कि खतरे की सभावनावाले ग्रेट ब्रिटेन में भी, नौजवानों के लिए इस प्रश्न का हल होना बहुत जरूरी है। लेकिन दक्षिण अफ्रीका, मिस्र या आस्ट्रेलिया जैसे देशों मे, जिन्हें शायद चढ़ाई की सम्भावना का मुकावला करना पड़े, और हिन्दुस्तान मे, जिसमे 'पूर्ण स्वाधीनता' के समय शायद जापान या मुस्लिम देशों के गुट्ट की चढाई की सम्भावना रहे, यह अभी असल मे उतना महत्वपूर्ण नही है।

ऐसी सम्भावनाओं (वल्कि कहना चाहिए कि हकीकतों) के सामने क्या हरेक तीव्र विवेक-बुद्धि रखनेवाले को (फिर वह चाहे जवान हो या बूढ़ा) क्या इस बात का निश्चय न होना चाहिए कि उसके करने के लिए कौन-सा तरीका सही और व्यावहारिक है? यह एक ऐसी समस्या है जिसका किसी-न-किसी रूप मे (अगर रोज नहीं तो किसी-न-किसी दिन) हममे से हरेक को खुद सामना करना पड़ेगा। क्या आपके वाचक इन वातों को स्पष्ट करने मे सहायक हो सकते हैं? जिन्हे इस बात का निश्चय न हो कि समय आने पर उन्हे इसका क्या जवाब देना चाहिए, वे इसपर विचार करके इसबारे मे निश्चय कर सकते

है। हाँ, जिन्हें अपने जवाब का निश्चय हो इन्हें मेहरबानी करके दूसरों को भी वैसा ही निश्चितमति बनने मे मदद करनी चाहिए।

शान्ति की प्रतिज्ञा लेनेवालों के प्रतिरोध के पक्ष मे जो दलीलें दी गई हैं उनके बारे मे तो कुछ भी कहने की जरूरत नहीं है। हाँ, प्रतिरोध के विरुद्ध जो दलीलें दी गई है उनकी सावधानी के साथ छान-बीन करने की जरूरत है। इनमे से पहली दलील अगर सही हो तो वह युद्ध-विरोधी आदोलन की ठेठ जड़ पर ही कुठाराघात करती है। इसका आधार इस कल्पना पर है कि फासिस्टों और नाजियों का हृदय पलटना सभव है। उन्हीं जातियों मे वे पैदा हुए है कि जिनमे तथाकथित प्रजातन्त्रवादियों, या कहना चाहिए खुद युद्धविरोधियों, का जन्म हुआ है। अपने कुटुम्बियों मे वे वैसी ही मृदुता, वैसे ही प्रेम, समझदारी व उदारता से पेश आते है जैसे युद्ध-विरोधी इस दायरे के बाहर भी शायद पेश आते हों।

अन्तर सिर्फ परिमाण का है। फासिस्ट और नाजी तथाकथित प्रजातन्त्रों के दुर्गुणों के कारण ही न पैदा हुए हों तो निश्चय ही वे उनके सशोधित सस्करण हैं। किर्बी पेज ने पिछले युद्ध से हुए सहार पर लिखी हुई अपनी पुस्तिका मे बताया है कि दोनों ही पक्षवाले झूठ और अतिशयोक्ति के अपराधी थे। वरसाई की सधि विजयी राष्ट्रों द्वारा जर्मनी से बदला लेने के लिए की गई संधि थी। तथाकथित प्रजातन्त्रों ने अब से पहले दूसरों की जमीनों को जबरदस्ती अपने कब्जे मे किया है और निर्दय

दमन को अपनाया है। ऐसी हालत मे अपने पूर्वजों ने तथाकथित पिछड़ी हुई जातियों का अपने भौतिक लाभ के लिए शोषण करने मे जिस अवैज्ञानिक हिसा की वृद्धि की थी, मेसर्स हिटलर एण्ड कम्पनी ने उसे वैज्ञानिक रूप दे दिया तो उसमे आश्चर्य की बात क्या है ? इसलिए अगर यह मान लिया जाये, जैसा कि माना जाता है, कि ये तथाकथित प्रजातन्त्र अहिसा का एक हद तक पालन करने से पिघल जाते हैं तो फासिस्टों और नाजियों के पाषाणहृदयों को पिघलाने के लिए कितनी अहिसा की जरूरत होगी, यह त्रैराशिक से मालूम किया जा सकता है। इसलिए पहली दलील तो निकम्मी है, और उसमे कुछ तथ्य माना भी जाये तब भी उसे ध्यान से बाहर निकाल देना होगा।

अन्य दो दलीलें व्यावहारिक हैं। शान्तिवादियों को ऐसी कोई बात तो न करनी चाहिए जिससे उनकी सरकारों के कमजोर पड़ने की सम्भावना हो। लेकिन इस भय से उन्हें यह दिखा देने के एकमात्र कारगर अवसर को नहीं गँवा देना चाहिए कि सभी तरह के युद्धों की व्यर्थता मे उनका अटूट विश्वास है। अगर उनकी सरकारें पागलपन के साथ युद्ध-विरोधियों को बनाने लगें, तो उन्हे अपनी करनी के फलस्वरूप होनेवाली अशान्ति के परिणामों को सहना ही होगा। प्रजातन्त्रों को चाहिए कि वे व्यक्तिगत रूप से अहिसा का पालन करने की स्वतन्त्रता का आदर करें। ऐसा करने पर ही ससार के लिए आशा-किरणों का उदय होगा।

'हरिजन-सेवक' • १५ अप्रेल, १९३९

: ६ :

अद्वितीय शक्ति

मेरी प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल मे अहिंसा रहती है, और इसीसे जिन तीन सार्वजनिक प्रवृत्तियों मे मैं आजकल अपना सरवस उँडेलता दिखाई देता हूँ, उनके मूल मे तो अहिंसा होनी ही चाहिए। ये तीन प्रवृत्तियाँ अस्पृश्यता-निवारण, खादी और गाँवों का पुनरुद्धार है। हिन्दू-मुसलमान-एकता चौथी वस्तु है। इसके साथ मैं अपने बचपन से ही ओत-प्रोत रहा हूँ। पर अभी मैं इस विषय मे ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता, जो प्रत्यक्ष नजर आ सके। इसलिए इस दृष्टि से मैंने इस विषय मे अपनी हार कबूल कर ली है। पर इसपर से कोई यह कल्पना न करले, कि मैं इस सम्बन्ध मे हाथ धो बैठा हूँ। मेरे जीते जी नहीं तो मेरी मृत्यु के बाद हिंदू और मुसलमान इस बात के साक्षी होंगे कि मैंने हिन्दू-मुस्लिम-एकता साधने का मत्र-जप अत तक नहीं छोडा था। इसलिए आज, जब कि इटली ने अबीसीनिया के विरुद्ध युद्ध छेड दिया है, अहिसा के विषय मे थोड़ा विचार कर लेना अप्रासगिक तो नहीं, किंतु आवश्यक ही है ऐसा मैं देखता हूँ।

अहिंसा को जो धर्म के रूप मे मानते हैं उनकी दृष्टि से उसे सर्वव्यापक होना चाहिए। अहिंसा को धर्म माननेवाले अपनी एक प्रवृत्ति मे अहिंसक रहें और दूसरी के विषय में हिंसक, ऐसा कैसे हो सकता है? यह तो केवल व्यवहार-नीति मानी जायगी। इसलिए इटली जो युद्ध कर रहा है उसके सम्बन्ध मे अहिंसाधर्मी उदासीन नहीं रह सकता। यह होते हुए भी इस विषय मे अपनी राय बतलाने और अपने देश को मार्ग दिखाने के लिए आग्रहपूर्ण सूचनाओं के प्रति मुझे इन्कार करना पड़ा है। बहुधा सत्य और अहिंसा के लिए मौनरूपी आत्म-निग्रह धारण करना ही पडता है। यदि भारत ने बतौर राष्ट्र के सामाजिक अहिंसा को धर्मरूप से स्वीकार किया होता, तो मैंने अवश्य ही कोई-न-कोई सक्रिय मार्ग बता दिया होता। यह मै जानता हूँ कि करोडों के हृदय पर मुझे कितना अधिकार प्राप्त हो चुका है पर उसकी बडी-बडी मर्यादाओं को भी मैं ठीक-ठीक समझ सकता हूँ। सर्वव्यापक अहिंसा के मार्ग पर भारत की पचरंगी प्रजा को मार्ग दिखाने की शक्ति ईश्वर ने मुझे प्रदान नही की है। अनादि काल से भारत को अहिंसा-धर्म का उपदेश तो अवश्य मिलता चला आ रहा है, किंतु समस्त भारतवर्ष मे सक्रिय अहिंसा पूर्णरूप से किसी काल मे अमल में लाई गई थी ऐसा मैने भारत के इतिहास मे नहीं देखा। यह होते हुए भी अनेक कारणों से मेरी ऐसी अचल श्रद्धा है सही कि भारत किसी भी दिन सारे जगत् को अहिंसा का पाठ पढ़ायेगा। ऐसा होने मे भले ही कई युग गुजर जाये। पर मेरी

बुद्धि तो यही बतलाती है कि दूसरा कोई भी राष्ट्र इस कार्य का अगुआ नहीं बन सकता।

अब हम जरा यह देखें कि इस अद्वितीय शक्ति के अग मे क्या समाया हुआ है। कुछ ही दिन पहले इस चालू युद्ध के सम्बन्ध मे अनायास ही कुछ मित्रों ने मुझसे नीचे लिखे ये तीन प्रश्न पूछे थे:

१—अबीसीनिया, जिसे शस्त्र दुर्लभ हैं, यदि अहिंसक हो जाये तो वह शस्त्र-सुलभ इटली के मुकाबिले मे क्या कर सकता है?

२—यूरोप के पिछले महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप स्थापित राष्ट्र-सघ का इङ्गलैंड सबसे प्रबल सदस्य है। इङ्गलैंड यदि आपके अर्थ के अनुसार अहिंसक हो जाये तो वह क्या कर सकता है?

३—भारतवर्ष आपके अर्थ के अनुसार यदि अहिंसा को एक-दम ग्रहण कर ले तो वह क्या कर सकता है?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के पहले अहिंसा से उत्पन्न होनेवाले इन पॉच उपसिद्धान्तों का आ जाना आवश्यक मालूम होता है —

(१) मनुष्यों के लिए यथासभव आत्म-शुद्धि अहिंसा का एक आवश्यक अङ्ग है।

(२) मनुष्य-मनुष्य के बीच मुकाबिला करे तो ऐसा देखने मे आयेगा कि अहिंसक मनुष्य की हिंसा करने की जितनी शक्ति होगी उतनी ही मात्रा में उसकी अहिंसा का माप हो जायेगा।

यहॉ कोई हिंसा की शक्ति के बदले हिंसा की इच्छा समझने

की भूल न करे। अहिंसक में हिंसा की इच्छा तो कभी भी नहीं हो सकती।

(३) अहिंसा हमेशा हिंसा की अपेक्षा बढ़ी-चढ़ी शक्ति रहेगी, अर्थात् एक मनुष्य में उसके हिंसक होते हुए जितनी शक्ति होगी उससे अधिक शक्ति उसके अहिंसक होने में होगी।

(४) अहिंसा में हार के लिए स्थान ही नहीं है। हिंसा के अन्त में तो हार ही है।

(५) अहिंसा के सम्बन्ध में यदि जीत शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, तो यह कहा जा सकता है कि अहिंसा के अन्त में हमेशा ही जीत होगी। वास्तविक रीति से देखें, तो जहाँ हार नहीं वहाँ जीत भी नहीं।

अब इन उपसिद्धांतों की दृष्टि से ऊपर के तीन प्रश्नों पर विचार करें।

१—अबीसीनिया अहिंसक हो जाय तो उसके पास जो थोड़े बहुत हथियार हैं, उन्हें वह फेंक देगा। उसे उनकी जरूरत नहीं होनी चाहिए। यह प्रत्यक्ष है कि अहिंसक अबीसीनिया किसी राष्ट्र के शस्त्र-बल की अपेक्षा न करेगा। यह राष्ट्र आत्म-शुद्ध होकर अपने विरुद्ध किसी को शिकायत करने का कोई मौका न देगा, क्योंकि वह तो तब सभी की कल्याण-कामना करेगा। और अहिंसक अबीसीनिया जैसे अपने हथियार फेंककर इटली के खिलाफ नहीं लड़ेगा, उसी तरह इच्छापूर्वक या जबरन उसे सहयोग नहीं देगा, उसके आधीन नहीं होगा। अत इटली हबशी

प्रजा पर अधिकार प्राप्त नहीं करेगा, किन्तु केवल उनकी भूमि पर कब्जा करेगा। हम यह जानते है कि इटली का हेतु केवल जमीन पर कब्जा करने का नहीं है। इटली का हेतु तो इस उपजाऊ देश के हब्शियों को अपने वस मे करने का है। उसका यह हेतु यदि सिद्ध न हो सका, तो फिर वह किसके विरुद्ध लड़ेगा ?

२—समस्त अंग्रेज जनता हृदय से अहिंसा को स्वीकार कर ले, तो वह साम्राज्य-विस्तार का लोभ छोड दे, अरबों रुपये के गोला-बारूद इत्यादि का त्याग करदे। इस कल्पनातीत त्याग मे जो नैतिक बल अंग्रेजों मे देखने मे आयेगा उसका असर इटली के हृदय पर हुए बिना न रहेगा। अहिंसक इग्लैण्ड के जिन पॉच उपसिद्धांतों को मैंने बतलाया है उनका ससार को चकाचौंध मे डाल देनेवाला एक सजीव प्रदर्शन हो जायगा। यह परिवर्तन एक ऐसा महान् चमत्कार होगा जो किसी भी युग मे न अबतक हुआ है, और न आगे कभी होगा। ऐसा परिवर्तन कल्पनातीत होते हुए भी अगर अहिंसा एक सच्ची शक्ति है तो वह होकर ही रहेगा। मै तो इसी श्रद्धा पर जी रहा हूँ।

३—तीसरे प्रश्न का उत्तर इस तरह दिया जा सकता है। यह तो मैं ऊपर कह ही चुका हूँ कि भारत राष्ट्र के रूप मे पूर्ण रीति से अहिंसक नहीं है। और उसके पास हिंसा करने की भी शक्ति नहीं। बहादुर आदमियों को हथियारों की पर्वा कम-से-कम हुआ करती है। जरूरी हथियार किसी तरह से भी वे प्राप्त कर लेते है। इसलिए हिन्दुस्तान मे हिंसा करने की शक्ति नहीं

है इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दुस्तान ने कभी एक राष्ट्र के रूप मे इस शक्ति को विकसित नहीं किया। इसलिए उसकी अहिंसा दुर्बल की अहिंसा है, इसीसे वह उसे नहीं मोह सकती, और उसका प्रभाव नहीं पड सकता। जहाँ तहाँ हम नित्य भारत की दुर्बलता का ही दर्शन किया करते हैं और ससार के सामने भारत एक ऐसी प्रजा के रूप मे दिखाई देता है कि जिसका दिन-दिन शोषण होता जा रहा है। यहाँ भारत की राजनीतिक पराधीनता ही बताने का हेतु नहीं है; बल्कि अहिंसक और नैतिक दृष्टि से हम आज उतरे हुए मालूम होते हैं। आपस मे बात करें तो भी हम अपने को नीचे ही देखते हैं। ऐसा मालूम होता है कि किसी भी बलवान् के आगे साहस के साथ खड़े होने की शक्ति हम खो बैठे हैं। हम लोगों मे ऐसी शक्ति नहीं है, यह बात हमारे दिल मे घर कर गई है। जहाँ-तहाँ हम अपनी निर्बलता ही देखा करते हैं। यदि ऐसा न हो तो हम लोगों मे हिन्दू-मुसलमान के बीच झगड़ा ही क्यों हो? आपस मे तकरार ही क्यों हो? राजसत्ता के विरुद्ध लड़ाई किसलिए हो? यदि हममे सबल राष्ट्र की अहिंसा हो, तो अंग्रेज न हम लोगों के प्रति अविश्वास करें, न अपने प्राणों का हमारी तरफ से कोई भय रखें और न अपने को यहाँ विदेशी शासक के रूप मे मानें। भले ही राजनीति की भाषा मे इच्छा हो तो हम उनकी टीका करें। कितनी ही बातों मे हमारी आलोचना मे सचाई होती है। किन्तु यदि एक क्षण के लिए भी पैतीस करोड़ मनुष्य अपने को एक सबल

मनुष्य के रूप मे समझ सकें और अंग्रेजों को—या किसी को भी—हानि पहुँचाने की कल्पना करते हुए भी लज्जित हों, तो अंग्रेज सिपाहियों, व्यापारियों अथवा अफसरों का भय हम छुडा देंगे, और अंग्रेजों मे हमारे प्रति आज जो अविश्वास है वह दूर हो जायगा। यदि हम सच्चे अहिंसक हो जायें तो अंग्रेज हमारे मित्र बन जायें। अर्थात्, हम करोडों की संख्या मे होने से इस दुनिया मे बडी-से-बडी शक्ति के रूप मे पहिचाने जायें, और इसीलिए उनके हितचिन्तक के रूप मे हम जो सलाह उन्हें दें उसे वे अवश्य ही मानें।

मेरी दलीलें पूरी हो गई। पाठक देख सकेंगे कि ऊपर की दलीलें देकर मैंने उक्त पॉच उपसिद्धांतों का ही जैसे-तैसे समर्थन किया है। सच बात तो यह है कि जिसकी दलील से पूर्ति करनी पडती है वह न तो सिद्धांत है न उपसिद्धांत। सिद्धांत को तो स्वयसिद्ध होना चाहिए। पर दुर्भाग्य से हम मोहजाल में अथवा जडतारूपी शक्ति मे ऐसे फँसे हुए है कि अक्सर सूर्यवत् स्पष्ट वस्तुओं को भी हम नहीं देख सकते। इसीसे किसी प्राचीन ऋषि ने कहा है कि, "सत्य के ऊपर जो सुनहला आवरण आ गया है, उसे हे प्रभो, तू दूर करदे।"

यहॉ, मुझे जब मैं विद्यार्थी था तब का एक स्मरण याद आ रहा है। जबतक 'भूमिति' समझनेलायक मेरी बुद्धि विकसित नहीं हुई थी, तबतक यह बात थी कि अध्यापक तो तख्ती पर आकृतियॉ बनाया करता और मेरा दिमाग इधर-उधर चक्कर लगाया करता

था। कई बार यूक्लिड के १२ सिद्धांत पढ़े, पर मेरी समझ मे पत्थर भी न आया। जब यकायक मेरी बुद्धि खुल गई, तब उसी क्षण भूमिति-शास्त्र मुझे एक सरल-से-सरल शास्त्र मालूम हुआ। इससे भी अधिक सरल अहिंसा-शास्त्र है, ऐसा मेरा विश्वास है। पर जबतक हमारे हृदय के पट नहीं खुल जाते, तबतक अहिंसा हमारे अतर मे कैसे प्रवेश कर सकती है ? बुद्धि हृदय को भेदने मे असमर्थ है। वह हमे थोड़ी ही दूर ले जा सकती है, और वहाँ व्याकुल बनाकर छोड देती है। अनेक सशय हमे भ्रमाते है। अहिंसा श्रद्धा का विषय है, अनुभव का विषय है। जहाँतक ससार उसपर श्रद्धा जमाने के लिए तैयार नहीं, वहाँतक तो वह चमत्कार की ही बाट जोहता रहेगा। उसे बड़े पैमाने पर जो प्रत्यक्ष दिखाई दे सके ऐसी अहिंसा की जीत देखनी है। इसलिए कुछ विद्वान बुद्धि का महान् प्रयोग करके हमे समझाते है कि बतौर सामाजिक शक्ति के अहिंसा को विकसित करना आकाश-पुष्प तोडने की तैयारी करने के समान है। वे हमे समझाते है कि अहिंसा तो केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है। सचमुच अगर ऐसा ही है, तो क्या मनुष्यजाति और पशुजाति के बीच वास्तविक भेद कुछ है ही नहीं ? एक के चार पैर है, दूसरे के दो, एक के सींग, दूसरे के नहीं !

'हरिजन-सेवक' : १२ अक्तूबर, १९३५

: १० :

अहिंसा और अन्तर्राष्ट्रीय मामले

[मद्रास के पास ताम्बरम् में होनेवाले अन्तर्राष्ट्रीय-पादरी सम्मेलन में भाग लेनेवाले कई प्रसिद्ध व्यक्ति वर्धा आये। उनमे से कुछ सम्मेलन से पहले गांधीजी से वातचीत करने का लाभ उठाने के उद्देश्य से सेगाॅव (सेवाग्राम) आये थे। उनमे अन्तर्राष्ट्रीय मिशनरी कौंसिल के मन्त्री रेवरेण्ड विलियम पैटन, अमेरिका के अग्रणी पादरी ओहदेदार रेवरेण्ड लेस्ली मास और लदन की देश-विदेशी बाइबल सोसाइटी वाले डा० स्मिथ के नाम उल्लेखनीय हैं।

जिन्हे इस बात की खास तौर से फिक्र थी उसे इन्होने गाधी-जी के सामने इस प्रकार पेश किया .

"आज सारी दुनिया के ऊपर छाई हुई अन्तर्राष्ट्रीय घटाएँ मानव-जाति को द्वेष और रक्तपात की भयानक होली मे होम देने को तैयार है, उसमे से मानव जाति को किस तरह बचाया जाये? सभ्यता की आड मे पशु-बल से काम लेने मे अपनी असमर्थता की इतनी प्रतीति थी इससे पहले कभी न हुई होगी।"

इस हालत में गाधीजी के अहिंसा-शस्त्र पर अग्रगण्य विचारकों का ध्यान स्वभावत गया है और इन अहिंसा की विचारा-सरणी के पीछे जो श्रद्धा, प्रार्थना तथा आत्मशुद्धि की प्रेरणा है, जो धर्म भावना इस मे सम्मिलित है, उनसे सबन्ध रखनेवाले अनेक प्रश्न उन्होंने किये।—स०]

प्रश्न—धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक हरेक क्षेत्र में आप जो कुछ कर रहे है उसके पीछे आपका हेतु क्या है?

गाधीजी—शुद्ध धार्मिक। यही सवाल एक राजनैतिक प्रतिनिधि-मडल के साथ मेरे इग्लैण्ड जाने पर स्वर्गीय भारत-मन्त्री माण्टेग्यू ने भी मुझसे पूछा था। उन्होंने कहा था, तुम्हारे जैसे समाज सुधारक इस मडल के साथ यहाँ कैसे आये? मैंने कहा कि मेरी सामाजिक प्रवृत्ति का यही विस्तार मात्र है। सारी मनुष्य-जाति के साथ आत्मीयता कायम किये विना मेरी धर्म-भावना सन्तुष्ट नहीं हो सकती और यह तभी सम्भव है जब कि राजनैतिक मामलों मे मै भाग लूँ। क्योंकि आजकी दुनिया मे मनुष्यों की प्रवृत्ति एक और अभिभाज्य है। उसमे सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक और शुद्ध धार्मिक ऐसे जुदे-जुदे भाग नहीं किये जा सकते। मानव-हित की प्रवृत्ति से भिन्न धर्म मैं नहीं जानता। ऐसी धर्म-भावना से रहित दूसरी तमाम प्रवृत्तियाँ नैतिक-आधार-विहीन है और जीवन को खाली 'अर्थहीन धाँधलेबाजी तथा 'हल्ले-गुल्लेवाला' कर डालती हैं।

प्रश्न—हम देखते है कि सर्वसाधारण के ऊपर आपका अजीब

प्रभाव है। यह कार्य के प्रति आपकी निष्ठा का परिणाम है या सर्व-साधारण के प्रति आपके प्रेम का?

गांधीजी—सर्वसाधारण के प्रति प्रेम का। सर्वसाधारण के प्रति अपने प्रेम की ही वजह से मैंने अपने जीवन मे अस्पृश्यता-निवारण का सवाल उठाया है। मेरी माँ ने कहा, 'तू इस लडके को मत छू, यह अस्पृश्य है।' मैंने कहा—क्यों नहीं छुऊँ? और उसी दिन से मेरा विद्रोह शुरू हो गया।

प्रश्न—यूरोप के शान्तिवादियो की वृत्ति, जिसे कि हम यूरोपवाले अभी बहुत सफलतापूर्वक ग्रहण नही कर सके, आपको अपनी अहिंसावाद की दृष्टि से कैसी लगती है?

गाधीजी—मेरी धारणा के अनुसार अहिंसा किसी भी रूप या किसी भी अर्थ मे निष्क्रिय वृत्ति है ही नहीं। अहिंसा को जिस तरह मै समझता हूँ, उसके अनुसार तो दुनिया की यह सबसे बडी सक्रिय शक्ति है, इसलिए भौतिकवाद हो या दूसरा कोई भी वाद, यदि अहिंसा उसे नष्ट न कर सकती हो, तो मै यही कहूँगा कि वह अहिंसा ही नहीं है। अथवा दूसरे शब्दों मे कहूँ कि अगर आप मेरे सामने कुछ ऐसी समस्याएँ लायें कि जिनका मै हल न बता सकूँ, तो मै तो यही कहूँगा कि मेरी अहिंसा अपूर्ण है। अहिंसा एक सार्वभौम नियम है। अपने आधी शताब्दी के अनुभव में मुझे एक भी ऐसा संयोग या स्थिति याद नहीं आती कि जिसमे मुझे यह कहना पडा हो कि मै लाचार हूँ, मेरे पास अहिंसा के अनुसार कुछ उपाय

रहा नहीं है।

यहूदियों का सवाल लीजिए। इस प्रश्न पर मैंने अभी मैंने 'हरिजन' में लिखा है। मेरी दृष्टि से अगर वे अहिंसा का मार्ग स्वीकार करलें तो किसी भी यहूदी को विवशता अनुभव करने की जरूरत नहीं। एक मित्र ने मुझे पत्र लिखकर यह आपत्ति उठाई है कि मैंने अपने लेख में यह मान लिया है कि यहूदी हिंसक हैं। यह सही है कि यहूदियों ने अपने व्यक्तिगत वर्ताव में सक्रिय हिंसा नहीं की है। पर उन्होंने अपने जर्मन विरोधियों पर सारी दुनिया को उजाड़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अमेरिका तथा इंग्लैंड को लड़ाई में कूद पड़ने के लिए सिफारिश की है। अगर मैं अपने विरोधी पर प्रहार करता हूँ, तब तो मैं हिंसा करता ही हूँ। पर अगर मैं सच्चा अहिंसक हूँ, तो जब वह मेरे ऊपर प्रहार कर रहा हो तब भी मुझे उसपर प्रेम करना है, और उसका कल्याण चाहता है, उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी है। यहूदी सक्रिय अहिंसक नहीं बने हैं। नहीं तो वे अपने विरोधी अधिनायकों के दुष्कृत्यों को क्षमा करते हुए कहते : 'हम उनका प्रहार सहन करेंगे, पर जिस तरह वे अपने प्रहार सहन करना चाहते हैं, उस तरह हम कभी सहन नहीं करेंगे। अगर ऐसा करनेवाला एक यहूदी भी निकल आये, तो वह तमाम अत्याचारों को सहन करते हुए भी अपना स्वाभिमान अखण्डित रख सकता है। और वह अपने पीछे एक ऐसा उदाहरण छोड़ जायगा कि जिससे दुनिया के तमाम यहूदियों का

उद्धार हो सकता है, और सारी मानव जाति के लिए भी वह एक बहुमूल्य विरासत दे जायगा ।

आप पूछेंगे कि चीन के बारे मे आप क्या कहते है ? चीन की तो दूसरे किसी देश पर नजर नहीं है। उसे दूसरों के देश पर कब्जा नहीं करना है। यह शायद सच है कि चीन इस प्रकार की आक्रमणनीति के लिए तैयार नहीं। आज जो उसका शान्तिवाद जैसा दिखाई देता है वह शायद निरा प्रमाद ही हो। चाहे जो हो तो भी चीन की वृत्ति सक्रिय अहिसा की तो है ही नहीं। फिर जापान के आक्रमण से जो वह वीरता पूर्वक अपना बचाव कर रहा है वह भी इस चीज का प्रमाण है कि चीन की वृत्ति सोद्देश्य अहिसक नहीं है। उस पर आक्रमण हुआ है और वह बचाव कर रहा है यह कोई अहिसा की दृष्टि से जवाब नहीं है। इसलिए सक्रिय अहिंसा की परीक्षा का समय आने पर वह हीन ही ठहरा। यह मै चीन की कोई टीका नहीं कर रहा हूँ। मै चीन की विजय चाहता हूँ। पहले से चली आई परपरा से देखा जाय तो उसका यह वर्ताव विलकुल उचित ही है। पर जब हम अहिंसा की दृष्टि से देखने बैठेंगे, तब तो मैं यही कहूँगा कि चालीस करोड़ की प्रजा—जापान की जितनी ही सभ्य और सस्कारी प्रजा—जापान के आक्रमण का सामना इस प्रकार करने के लिए निकले, यह अशोभनीय बात है। चीनियों मे यदि मेरी धारणा के अनुसार अहिंसा हो, तो जापानियों के पास जो आधुनिक से आधुनिक प्रकार की हिसक शस्त्र-सामग्री है उसका उन्हें कुछ भी

उपयोग न रहे। चीनी तब जापानियों से यह कहें—'अपनी सारी शस्त्र-सामग्री ले आओ। अपनी आधी जन-संख्या हम उसके भेंट करते हैं। पर बाक़ी के जो बीस करोड़ बचेंगे वे किसी भी बात में तुम्हारे सामने घुटने नहीं टेकेंगे।' अगर चीनी यह कर सकें, तो जापान को चीन का बन्दी बनकर रहना पड़े।

यह आपत्ति भी उठाई गई है कि यहूदियों के बारे में तो अहिंसा की हिमायत ठीक है। कारण कि उनके उदाहरण में तो अत्याचार सहनेवाले और अत्याचारी के बीच में व्यक्तिगत व्यवहार का सम्बन्ध है। लेकिन चीन में तो जापान दूर से गोला-बारी करनेवाली तोपों और हवाई जहाज़ों से हमला कर रहा है। अन्तरिक्ष में से विध्वंसक विमानारूढ़ शायद ही यह देख और जान पाते हैं कि खुद उन्हें किसने मारा और उन्होंने किनको मारा। ऐसे हवाई जहाज़ी युद्ध का सामना अहिंसा किस तरह कर सकती है? जवाब इसका यह है कि हवाई जहाज़ों से जो संहारक बम बरसाये जाते हैं उन्हें बरसानेवाले मनुष्य के ही तो हाथ हैं और उन हाथों को जो हुक्म देता है वह भी मानव-हृदय है। फिर इस सारी संहारक बम-वर्षा के पीछे मनुष्य का हिसाब भी है पर्याप्त परिमाण में ऐसे संहारक बम बरसाने से आवश्यक परिणाम होगा। मतलब यह है कि शत्रु आत्म-समर्पण कर देगा और हम उससे जो चाहते हैं वह करालेंगे। पर मान लीजिए कि एक सारी प्रजा ने ऐसा निश्चय कर लिया है कि हम किसी भी तरह अत्याचारी के आधीन नहीं होंगे

तथा उसकी पद्धति से उसका सामना भी नहीं करेंगे, तो इस स्थिति मे अत्याचारी को उस प्रजा पर सहारक वम बरसाना पुसा नहीं सकता। अगर अत्याचारी के आगे अनाप-शनाप भोजन रख दिया जाय, तो एक समय ऐसा आयगा कि जब उसका पेट और ज्यादा भोजन ठूसने से इन्कार कर देगा। अगर दुनिया के सारे चूहे कान्फ्रेन्स करके यह निश्चय कर लें कि बिल्ली से डरेंगे नहीं. बल्कि सब के सब सामने जाकर बिल्ली के मुँह मे चले जायँगे, तो सचमुच ही सचमुच ही मूषक जाति का उद्धार हो जाय। मैंने एक बिल्ली को चूहे के साथ खिलवाड करते हुए देखा था, चूहे को मार न डालकर उसे उसने जबडे मे पकड रक्खा था। बाद मे छोड दिया और जब यह देखकर कि वह भागा जा रहा है उसे फिर छलांग मारकर पकड लिया। अन्त मे उस चूहे ने निरे डर के मारे ही प्राण छोड़ दिये। अगर चूहे ने भागने का प्रयत्न न किया होता, तो बिल्ली को उससे कुछ मज़ा न मिलता।

प्रश्न—आप हिटलर और मुसोलिनी को जानते नहीं हैं। उनपर किसी भी तरह का नैतिक असर पड ही नहीं सकता। अन्त करण नाम की चीज ही उनके पास नही है। और दुनिया के लोकमत की उन्हें जरा भी परवाह नहीं है। आपकी सलाह के अनुसार चेक प्रजा अहिंसा से उसका सामना करने जाय, तो उसे इन अधिनायकों का सीधा शिकार ही बनना पडे। मूलत अधिनायकता की व्याख्या से ही नीति की कक्षा बाहर है। फिर नैतिक हृदय-परिवर्तन का नियम लागू ही कैसे हो सकता है?

गाधीजी—अपनी इस दलील मे आप यह मान लेते हैं कि

हिटलर या मुसोलिनी जैसे आदमियों का उद्धार हो ही नहीं सकता। लेकिन अहिंसा में विश्वास रखनेवालों की आस्था ही इस आधार पर है कि मानव-स्वभाव मूलत एक ही है और उस पर प्रेम के वर्ताव का जरूर ही प्रभाव पड़ता है। इतने काल से मनुष्य हिंसा का ही प्रयास करता आया है और उसका प्रति-घोष हमेशा उल्टा है। यह कह सकते है कि सगठित अहिंसात्मक मुकाबले का प्रयोग अभी मनुष्य ने कहीं भी योग्य पैमाने पर नहीं देखा। इसलिए यह लाजिमी है कि जब वह यह प्रयोग देखेगा तब इस की श्रेष्ठता स्वीकार कर लेगा। फिर मैंने जिस अहिंसात्मक प्रयोग की तजवीज चेक प्रजा के सामने रखी थी, उसकी सफलता अधिनायकों के सद्भाव पर निर्भर नहीं करती, कारण कि सत्याग्रही तो केवल ईश्वर के बलपर ही लड़ता है, और पहाड जैसी दीख पड़नेवाली कठिनाइयों के बीच वह ईश्वर-श्रद्धा के बल पर टिका रहता है।

प्रश्न—लेकिन ये यूरोप के अधिनायक प्रत्यक्ष रीति से बल-प्रयोग तो करते नही। वे तो जो चाहते हैं उसपर सीधा ही कब्जा करलेते हैं। ऐसी स्थिति में अहिंसात्मक लडाई लडने वाले को क्या करना चाहिए?

गाधीजी—मान लीजिए ये लोग आकर चेक प्रजा की खानों, कारखानों, और दूसरी प्राकृतिक सम्पत्ति के साधनों पर कब्जा करलें, तो फिर इतने परिणाम आयेंगे —(१) चेक प्रजा के सविनय अवज्ञा करने के आधार पर भार डाला जाय। अगर ऐसा हुआ, तो वह चेक राष्ट्र की महान् विजय और जर्मनी के

पतन का प्रारम्भ समझा जायेगा। (२) अपार पशुबल के सामने प्रजा हिम्मत हार जाये। ऐसा सभी युद्धों मे होता है। पर अगर ऐसी भीरुता प्रजा मे आजाये, तो यह अहिंसा के कारण नहीं बल्कि अहिंसा के अभाव से, अथवा पर्याप्त मात्रा मे सक्रिय अहिंसा न होने के कारण, होगा। (३) तीसरे, यह हो कि जर्मनी जीते हुए देश मे अपनी अतिरिक्त जन-संख्या को ले जाकर बसाये। इसे भी हिंसात्मक सामना करके रोक नहीं सकते। क्योंकि हमने यह मान लिया है कि ऐसा मुकाबला अशक्य है, इसलिए अहिंसात्मक मुकाबला ही सब प्रकार की परिस्थितियों मे प्रतिकार का एक मात्र अचूक तरीका है।

और मैं यह भी नहीं मानता कि हिटलर तथा मुसोलिनी दुनिया के लोकमत की सर्वथा उपेक्षा कर सकते हैं। आज बेशक वे वैसा करके सन्तोष मान सकते हैं, क्योंकि तथाकथित बडे-बड़े राष्ट्रों मे से कोई भी साफ हाथों नहीं आता और इन बड़े-बड़े राष्ट्रों ने उनके साथ पहले जो अन्याय किया था वह उन्हें खटक रहा है। थोड़े दिनों की बात है कि एक अंग्रेज मित्र ने मेरे सामने यह स्वीकार किया था कि "आज का नाजी जर्मनी इंग्लैण्ड के पाप का फल है और वर्साई की संधि ने ही हिटलर को पैदा किया है।"

प्रश्न—बहैसियत एक ईसाई के, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के काम में मैं किस तरह योग दे सकता हूँ? किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अ धाधुंधी को

नष्ट कर शान्ति-स्थापन के लिए अहिंसा प्रभावकारी साबित हो सकती है ? पराधीन राष्ट्रों को एक तरफ रखदें, तो भी बड़े-बड़े राष्ट्रों की अग्रसर प्रजाओं से किस तरह निःशस्त्रीकरण कराया जा सकता है ?

एक ईसाई के रूप में आप अपना योग अहिंसात्मक सामना करके दे सकते हैं, फिर भले ही ऐसा मुकाबला करते हुए आपको अपना सर्वस्व होम देना पड़े। जबतक बड़े-बड़े राष्ट्र अपना निःशस्त्रीकरण करने का साहसपूर्वक निर्णय नहीं करेंगे, तबतक शांति स्थापित होने की नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि हाल के अनुभवों के बाद यह चीज बड़े-बड़े राष्ट्रों को स्पष्ट हो जानी चाहिए। मेरे हृदय में तो आधी सदी के निरन्तर अनुभव और प्रयोग के बाद पहले कभी ऐसा विश्वास नहीं हुआ, जैसाकि आज है, कि केवल अहिंसा में ही मानव-जाति का उद्धार निहित है। बाइबल की शिक्षा भी, जैसा कि मैं उसे समझता हूँ, मुख्यतः यही है।

'हरिजन-सेवक' १४ जनवरी १९३९

: ३ :

पिछला महायुद्ध और अहिंसा

: १ :

लड़ाई में भाग

विलायत पहुँचने पर खबर मिली कि गोखले तो पेरिस मे रह गये हैं, पेरिस के साथ आवागमन का सम्बन्ध बन्द हो गया है, और यह नहीं कहा जा सकता कि वह कब आयेंगे। गोखले अपने स्वास्थ्य-सुधार के लिए फ्रास गये थे, किन्तु बीच मे ही युद्ध छिड जाने से वहीं अटक रहे। उनसे मिले बिना मुझे देश जाना नहीं था, और वह कब आवेंगे, यह कोई कह नहीं सकता था।

अब सवाल यह खडा हुआ कि इस दरमियान करें क्या ? इस लड़ाई के सम्बन्ध मे मेरा धर्म क्या है ? जेल के मेरे साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजणिया विलायत मे बैरिस्टरी का अध्ययन कर रहे थे। सोराबजी को एक श्रेष्ठ सत्याग्रही के तौरपर इग्लैण्ड मे बैरिस्टरी की तालीम के लिए भेजा था कि जिससे दक्षिण आफ्रिका मे आकर मेरा स्थान ले लें। उनका खर्च डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता देते थे। उनके और उनके मार्फत डाक्टर जीवराज मेहता इत्यादि के साथ, जो विलायत मे पढ़ रहे थे, इस

विषय पर सलाह-मशविरा किया। विलायत मे उस समय जो हिन्दुस्तानी लोग रहते थे उनकी एक सभा बुलाई गई और उनके सामने मैने अपने विचार उपस्थित किये। मेरा यह मत हुआ कि विलायत मे रहनेवाले हिन्दुस्तानियों को इस लडाई मे अपना हिस्सा देना चाहिए। अंग्रेज विद्यार्थी लडाई मे सेवा करने का अपना निश्चय प्रकट कर चुके है। हम हिन्दुस्तानियों को भी इससे कम सहयोग न देना चाहिए। मेरी इस बात के विरोध मे इस सभा मे बहुतेरी दलीलें पेश की गई। कहा गया कि हमारी और अंग्रेजों की परिस्थिति मे हाथी घोडे का अन्तर है— एक गुलाम दूसरा सरदार। ऐसी स्थिति मे गुलाम अपने प्रभु की विपत्ति मे उसे स्वेच्छापूर्वक कैसे मदद कर सकता है? फिर जो गुलाम अपनी गुलामी मे से छूटना चाहता है, उसका धर्म क्या यह नहीं है कि प्रभु की विपत्ति से लाभ उठाकर अपना छुटकारा कर लेने की कोशिश करे? पर वह दलील मुझे उस समय कैसे पट सकती थी? यद्यपि मै दोनों की स्थिति का महान् अन्तर समझ सका था, फिर भी मुझे हमारी स्थिति बिलकुल गुलाम की स्थिति नहीं मालूम होती थी। उस समय मै यह समझे हुए था कि अंग्रेजी शासन-पद्धति की अपेक्षा कितने ही अंग्रेजी अधिकारियों का दोष अधिक था और उस दोष को हम प्रेम से दूर कर सकते है। मेरा यह खयाल था कि यदि अंग्रेजों के द्वारा और उनकी सहायता से हम अपनी स्थिति का सुधार चाहते हों तो हमे उनकी विपत्ति के समय सहायता पहुँचाकर

अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए। ब्रिटिश शासन-पद्धति को मै दोषमय तो मानता था, परन्तु आज की तरह वह उस समय असह्य नहीं मालूम होती थी। अतएव आज जिस प्रकार वर्तमान शासन-पद्धति पर से मेरा विश्वास उठ गया है और आज मैं अंग्रेजी राज्य की सहायता नहीं कर सकता, इसी तरह उस समय जिन लोगों का विश्वास इस पद्धति पर से ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी अधिकारियों पर से भी उठ चुका था, वे मदद करने के लिए कैसे तैयार हो सकते थे ?

उन्होंने इस समय को प्रजा की माँगें जोर के साथ पेश करने और शासन मे सुधार कराने की आवज उठाने के लिए बहुत अनुकूल पाया। मैंने इसे अंग्रेजों की आपत्ति का समय समझ कर माँगे पेश करना उचित न समझा और जबतक लड़ाई चल रही है तबतक हक माँगना मुल्तवी रखने के सयम मे सभ्यता और दीर्घ-दृष्टि समझी। इसलिए मै अपनी सलाह पर मजबूत बना रहा और कहा कि जिन्हें स्वय-सेवकों मे नाम लिखाना हो वे लिखा दें। नाम अच्छी सख्या मे आये। उनमे लगभग सब प्रान्तों और सब धर्मों के लोगों के नाम थे।

फिर लार्ड क्रू के नाम एक पत्र भेजा गया। उसमे हम लोगों ने अपनी यह इच्छा और तैयारी प्रकट की कि हम हिन्दुस्तानियों के लिए घायल सिपाहियों की सेवा-शुश्रूषा करने की तालीम की यदि आवश्यकता दिखाई दे तो उसके लिए तैयार है। कुछ सलाह-मशविरा करने के बाद लार्ड क्रू ने हम लोगों का प्रस्ताव

स्वीकार किया और इस बात के लिए हमारा अहसान माना कि हमने ऐसे मौके पर साम्राज्य की सहायता करने की तैयारी दिखाई।

जिन-जिन लोगों ने अपने नाम लिखाये थे उन्होंने प्रसिद्ध डाक्टर केन्टली की देख-रेख में घायलों की शुश्रूषा करने की प्राथमिक तालीम शुरू की। छः सप्ताह का छोटा-सा शिक्षा-क्रम रक्खा गया था और इतने समय मे घायलों को प्राथमिक सहायता करने की सब विधियाँ सिखा दी जाती थीं। हम कोई ८० स्वयं-सेवक इस शिक्षा-क्रम मे सम्मिलित हुए। छः सप्ताह के बाद परीक्षा ली गई तो उसमे सिर्फ एक ही शख्स फेल हुआ। जो लोग पास हो गये उनके लिए सरकार की ओर से कवायद वगैरा सिखाने का प्रबन्ध हुआ। कवायद सिखाने का भार कर्नल बैकर को सौंपा गया और वह इस टुकड़ी के मुखिया बनाये गये।

इस समय विलायत का दृश्य देखने लायक था। युद्ध से लोग घबराते नहीं थे, बल्कि सब उसमे यथाशक्ति मदद करने के लिए जुट पड़े। जिनका शरीर हट्टा-कट्टा था ऐसे नवयुवक सैनिक शिक्षा ग्रहण करने लगे। परन्तु अशक्त, बूढे और स्त्री आदि भी खाली हाथ न बैठे रहे। उनके लिए काम तो था ही। वे युद्ध मे घायल सैनिकों के लिए कपड़ा इत्यादि सीने-काटने का काम करने लगी। वहाँ स्त्रियों का 'लाइसियन' नामक एक क्लब है। उसके सभ्यों ने सैनिक-विभाग के लिए आवश्यक कपड़े यथाशक्ति बनाने का जिम्मा ले लिया। सरोजनीदेवी भी इसकी सदस्या थीं।

उन्होंने इसमे खूब दिलचस्पी ली थी। उनके साथ मेरा वह प्रथम ही परिचय था। उन्होंने कपड़े व्योंत कर मेरे सामने एक ढेर रख दिया और कहा कि जितने सिला सको, उतने सिलाकर मुझे दे देना। मैंने उनकी इच्छा का स्वागत करते हुए घायलों की शुश्रूषा की उस तालीम के दिनों मे जितने कपड़े तैयार हो सके उतने करके उनको दे दिये।

..त्मकथा . भाग ४, अध्याय २८

: २ :

धर्म की समस्या

युद्ध मे काम करने के लिए हम कुछ लोगों ने सभा करके जो अपने नाम सरकार को भेजे, इसकी खबर दक्षिण अफ्रीका पहुँचते ही वहाँ से दो तार मेरे नाम आये। उनमे से एक पोलक का था। उन्होंने पूछा था—'आपका यह कार्य अहिसा-सिद्धान्त के खिलाफ तो नहीं है ?'

मै ऐसे तार की आशका कर ही रहा था, क्योंकि 'हिन्द-स्वराज्य' मे मैने इस विषय की चर्चा की थी और दक्षिण अफ्रीका मे तो उसकी चर्चा निरन्तर हुआ ही करती थी। हम सब इस बात को मानते थे कि युद्ध अनीति-मय है। ऐसी हालत मे और जब कि मैं अपने पर हमला करनेवाले पर भी मुकदमा चलाने के लिए तैयार नहीं हुआ था तो फिर जहाँ दो राज्यों मे युद्ध चल रहा हो और जिसके भले या बुरे होने का मुझे पता न हो उसमे मै सहायता कैसे कर सकता हूँ, यह प्रश्न था। हालाँकि मित्र लोग यह जानते थे कि मैने बोअर-सग्राम मे योग दिया था तो भी उन्होंने यह मान लिया था कि उसके बाद मेरे विचारों मे परि-

वर्तन हो गया होगा।

और बात दरअसल यह थी कि जिस विचार-सरणि के अनुसार मै बोअर-युद्ध मे सम्मिलित हुआ था उसी का अनुसरण इस समय भी किया गया था। मै ठीक-ठीक देख रहा था कि युद्ध मे शरीक होना अहिसा के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है, परन्तु बात यह है कि कर्तव्य का भान मनुष्य को हमेशा दिन की तरह स्पष्ट नहीं दिखाई देता। सत्य के पुजारी को बहुत बार इस तरह गोते खाने पड़ते हैं।

अहिसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी है, जो हिसा की होली मे फॅसे हुए है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य एक क्षण भी बाह्य हिसा किये बिना नहीं जी सकता। खाते-पीते, बैठते-उठते, तमाम क्रियाओं मे इच्छा से या अनिच्छा से कुछ न-कुछ हिसा वह करता ही रहता है। यदि इस हिसा से छूट जाने का वह महान् प्रयास करता हो, उसकी भावना मे केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो, और उसे बचाने का यथाशक्ति प्रयास करता हो, तो समझना चाहिए कि वह अहिसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति मे निरन्तर सयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढ़ती रहेगी, परन्तु इसमे कोई सन्देह नहीं कि कोई भी देहधारी बाह्य हिसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

फिर अहिसा के पेट मे ही अद्वैत भावना का भी समावेश है। और यदि प्राणिमात्र मे भेद-भाव हो तो एक के काम का

असर दूसरे पर होता है और इस कारण भी मनुष्य हिंसा से सोलहों आना अछूता नहीं रह सकता। जो मनुष्य समाज मे रहता है वह, अनिच्छा से ही क्यों न हो, मनुष्य-समाज की हिंसा का हिस्सेदार बनता है। ऐसी दशा मे जब दो राष्ट्रों मे युद्ध हो तो अहिंसा के अनुयायी व्यक्ति का यह धर्म है कि वह उस युद्ध को रुकवावे। परन्तु जो इस धर्म का पालन न कर सके, जिसे विरोध करने का सामर्थ्य न हो, जिसे विरोध करने का अधिकार न प्राप्त हुआ हो, वह युद्ध-कार्य मे शामिल हो सकता है और ऐसा करते हुए भी उसमे से अपने को, अपने देश को और संसार को निकालने की हार्दिक कोशिश करता है।

मैं चाहता था कि अंग्रेजी राज्य के द्वारा अपनी, अर्थात अपने राष्ट्र की, स्थिति का सुधार करूँ। पर मै तो इंग्लैंड मे बैठा हुआ इग्लैंड की नौ-सेना से सुरक्षित था। उस बल का उपयोग इस तरह करके मैं उसकी हिंसकता मे सीधे-सीधे भागी हो रहा था। इसलिए यदि मुझे इस राज्य के साथ किसी तरह संबध रखना हो, इस साम्राज्य के झण्डे के नीचे रहना हो, तो या तो मुझे युद्ध का खुल्लमखुल्ला विरोध करके जबतक उस राज्य की युद्ध-नीति नहीं बदल जाय तबतक सत्याग्रह-शास्त्र के अनुसार उसका बहिष्कार करना चाहिए, अथवा भंग करने योग्य कानूनों का सविनय भंग करके जेल का रास्ता लेना चाहिए, या उसके युद्ध-कार्य मे शरीक होकर उसका मुकाबला करने का सामर्थ्य और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। विरोध की शक्ति मेरे अन्दर

थी नहीं, इसलिए मैंने सोचा कि युद्ध में शरीक होने का एक ही रास्ता मेरे लिए खुला था।

जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है, वह युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता।

पोलक का तार आने के पहले ही मेरे मन में ये सब विचार उठ चुके थे। उनका तार आते ही मैंने कुछ मित्रों से इसकी चर्चा की। मैंने अपना धर्म समझ कर युद्ध में योग दिया था और आज भी मैं विचार करता हूँ तो इस विचार-सरणि में मुझे दोष नहीं दिखाई पड़ता। ब्रिटिश-साम्राज्य के सम्बन्ध में उस समय जो विचार मेरे थे उनके अनुसार ही मैं युद्ध में शरीक हुआ था और इसलिए मुझे उसका कुछ भी पश्चात्ताप नहीं है।

मैं जानता हूँ कि अपने इन विचारों का औचित्य मैं अपने समस्त मित्रों के सामने उस समय भी सिद्ध नहीं कर सका था। यह प्रश्न सूक्ष्म है। इसमें मत-भेद के लिए गुंजाइश है। इसीलिए अहिंसा-धर्म को माननेवालों और सूक्ष्म-रीति से उसका

पालन करनेवालों के सामने जितनी हो सकती है खोलकर मैंने अपनी राय पेश की है। सत्य का आग्रही व्यक्ति रूढ़ि का अनुसरण करके ही हमेशा कार्य नहीं करता, न वह अपने विचारों पर हठपूर्वक आरूढ़ रहता है। वह हमेशा उसमें दोष होने की संभावना मानता है और उस दोष का ज्ञान हो जाने पर हर तरह की जोखिम उठाकर भी उसको मंजूर करता है और उसका प्रायश्चित्त भी करता है।

आत्मकथा खंड ४, अध्याय ३९

: ३ :

युद्ध के विरोध में युद्ध

एक सज्जन लिखते है

"यह पत्र लिखने का कारण यह है कि सत्य और अहिंसा के पुजारी होते हुए युद्ध के प्रति आपकी वृत्तिविषयक 'आत्मकथा' का अध्याय ('धर्म की समस्या', आत्मकथा खण्ड ४, अध्याय ३६) पढकर बहुतों के मन मे खलबली मच गयी है। मुझसे अधिक शक्तिवाले लोग आपको उस बारे मे लिखेगे। मुझे जो थोडी बाते सूझती है वे आपको बताना चाहता हूँ।

सत्य और अहिंसा का सच्चा पुजारी स्वय बुरी वस्तुओं का विरोध न कर सकता हो तो भी उनका सग तो कभी नही कर सकता क्या यह उसके आचरण का मूलभूत सिद्धान्त नहीं है? कुछ लोगो के कहे अनुसार युद्ध एक आवश्यक बुराई है। परन्तु उसके समाप्त होने के बाद जगत को उसकी दुष्टता का अधिक भान होगा, ऐसी आशा रखकर उसमें मदद देना चाहिए—यह बहाना ठीक नहीं है, न हो सकता है। बल्कि होता तो यह है कि मनुष्य की निष्ठुरता और भी जोरदार हो जाती है, और जीवन के प्रति पवित्रता की लगन मिट जाती है।

जैसे आप दलील करते हैं और कहते है वैसे ही हिंसावादी भी कह सकते है कि हम यूरोपियनों के हमले और अत्याचार को रोक नहीं सकते। समुदाय-बल से भी नहीं रोक सकते। परन्तु अगर हम उनके ही शस्त्रों से उनका सामना करके उन शस्त्रों की खराबी उन्हें बतावें तो वे अपनी नीति को बेवकूफी को समझेंगे और हम स्वतंत्र हो जायेंगे तथा अत्याचार से जगत को बचा लेंगे। जहाँतक हमारे राज्यकर्ता हिंसा-बल का उपयोग करते हैं और हमे अत्याचार से तिरस्कार है वहाँतक यह शस्त्र हमसे ही न चिपक जाये इतना ध्यान रखकर उनका उपयोग करते रहने में क्या हानि है?

यूरोपीय महायुद्ध ने प्रजाओं का और खास करके विजेताओं का कुछ भी भला किया है? युद्ध चाहे जैसा 'धर्म्य' हो फिर भी किसी युद्ध में से कोई भी अच्छाई पैदा हो सकती है? उसमे सक्रिय या निष्क्रिय रूप से भाग लेने की कैसी भी अनुमति देने के बदले उसका विरोध ही करना और इस प्रकार सिद्धान्त पालन करते हुए जो दु ख आवे सो उठा लेना क्या हमारा फर्ज नहीं है? सक्रिय रूप से लडाई में भाग लेनेवाले की बनिस्बत उससे दूर रहनेवाले शान्तिवादी अधिक सिद्धान्त-सेवा करते हैं, क्या ऐसा आप नहीं मानते? सन् १६१४ में जब आपकी अंग्रेजों की न्यायबुद्धि मे श्रद्धा थी तब की आपकी मनोवृत्ति आप जैसी कहते है वैसी होगी। पर क्या आज वह आपको उचित लगती है? मान लें कि कल लडाई शुरू हो तो क्या आप इस आशा मे कि लडाई बद हो जाने पर वस्तुस्थिति अधिकसुध-

रेगी, इग्लैंड की मदद करने को तैयार हो जायँगे ?

यह मैं जानता हूँ कि मुझे जो कहना है वह सब उत्तम रीति से नहीं कह सका हूँ, परन्तु मेरे कहने का मर्म आप समझ सकेंगे। इसका उत्तर मिलेगा तो मुझे खुशी होगी।"

मुझे भी ऐसा लगता है कि पत्र-लेखक अपनी चीज उत्तम रीति से पेश नहीं कर सके हैं। पाठकों मे एक ऐसा वर्ग होता है जो गम्भीर लेखों को भी ध्यानपूर्वक नहीं पढ़ता, केवल इसीलिए कि वे साप्ताहिक पत्र मे आते हैं। पत्र लिखनेवाले भाई भी ऐसे ही वर्ग के मालूम होते है। उनके जैसे पाठक अगर फिर से उस अध्याय को पढेंगे तो उसमे से इतनी बातें समझ सकेंगे—

(१) मैंने सेवा का यह काम इसलिए नहीं लिया कि मैं युद्ध मे विश्वास रखता था। कम से कम अप्रत्यक्ष रूप तक से उसमे भाग लेने से बचे रहना असम्भव था।

(२) युद्ध मे भाग लेने का विरोध करने का मुझे अधिकार नहीं था।

(३) जिस प्रकार मैं यह नहीं मानता कि पाप मे हिस्सा लेने से पाप दूर हो सकता है। उसी प्रकार यह भी मैं नहीं मानता कि युद्ध मे भाग लेने से युद्ध-निषेध हो सकता है। परन्तु जिसे हम पापयुक्त या अनिष्ट समझते हैं ऐसी अनेक वस्तुओं मे हमे सच-मुच लाचारी से हिस्सा लेना पडता है, यह दूसरी बात है। इसे यहाँ समझने की जरूरत है।

(४) हिंसावादी समझते-बूझते चाह करके और पहले से ही

निश्चय करके अत्याचारी नीति मे पडते हैं, इसलिए इसकी दलील अप्रस्तुत है।

(५) कहे जानेवाले विजेताओं को युद्ध से कोई फायदा नहीं हुआ।

(६) जिन शान्तिवादियों ने अपने विरोध के कारण जैसी यातना भोगी उन्होंने शान्ति-स्थापना मे अवश्य सहायता की।

(७) अगर कल कोई दूसरा युद्ध शुरू हो तो वर्तमान सरकार के बारे मे आज के अपने विचारों के अनुसार मैं उसे किसी भी रूप मे मदद नहीं कर सकता। उलटे अपनी शक्ति भर मैं दूसरों को मदद करने से रोकने का प्रयत्न करूँगा। और सम्भव हुआ तो सारे अहिंसामय साधनों का उपयोग करके उसकी हार हो ऐसा प्रयत्न करूँगा।

'नवजीवन' ८ मार्च, १९२८

: ४ :

युद्ध और अहिंसा

पिछले महायुद्ध में मैंने जो भाग लिया था और उसका 'आत्मकथा' में जिस प्रकार उल्लेख किया है वह अभी तक मित्रों और टीकाकारों को उलझन का विषय बना हुआ है। एक पत्र का जिक्र पहले कर आये हैं। यह दूसरा पत्र आया है—

"आपने 'आत्म-कथा' के चौथे भाग के ३८ वें अध्याय में पहले-पहल यूरोपीय महासमर में अपने शामिल होने का जिक्र किया है इसके औचित्य के विषय में मुझे शंका है। मेरा खयाल है कि मैं शायद आपका मतलब ही ठीक-ठीक नहीं समझ सका हूँ। इसलिए प्रार्थना है कि आप कृपा कर मेरी शंकाओं का समाधान कर दें।

"पहला प्रश्न है 'आपको दरअसल लड़ाई में शामिल होने के लिए किस बात ने प्रेरित किया ?' आप कहते हैं—'इसलिए अगर मुझे उस राज्य के साथ आखिर सरोकार रखना हो, उस राज्य की छत्रछाया में रहना हो तो या तो मुझे खुले तौर पर युद्ध का विरोध करके जब तक उसकी युद्ध-नीति न बदले तबतक सत्याग्रह के

शास्त्र के अनुसार उसका बहिष्कार करना चाहिए या फिर भग करना उचित हो तो वैसे कानूनों का सविनय भंग करके जेल का रास्ता ढूँढना चाहिए। अथवा मुझे उसकी युद्ध-प्रवृत्ति में भाग लेकर उसका विरोध करने की शक्ति और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। ऐसी शक्ति मुझमें नहीं थी। इसलिए मैंने माना कि मेरे पास युद्ध में भाग लेने का ही रास्ता बचा है।" (भाग ४ अध्याय ३६)

"आप युद्ध में शरीक होकर युद्ध की हिंसा का विरोध करने के लिए कौनसी योग्यता, कौनसी शक्ति प्राप्त करना चाहते थे?

"मैं देखता हूँ कि लडनेवाले दूसरे देशों के निवासियों की बनिस्बत आपकी स्थिति न्यारी थी। वे तो सेना में भर्ती किये जा सकते थे किन्तु आप नहीं और इसलिए निष्क्रिय प्रतिरोध का रास्ता आपके लिए स्वभावत ही नहीं खुला हुआ था। और अधिकार का बल पीठ पर हुए बिना युद्ध का सार्वजनिक रूप से विरोध जताना तो इससे भी बुरा था। लेकिन उसके लिए जितनी आवश्यक थी उससे अणुमात्र भी ज्यादा, विवश होकर, साझेदारी क्यों अपने ऊपर ले ली?

"यद्यपि ऊपर के उदाहरण से जान पडता है कि आप युद्ध का विरोध कर सकने की ताकत पैदा करने के लिए लडाई में शरीक हुए किन्तु दूसरी जगहों में आप खुलासा कहते हैं कि आपको आशा थी कि लडाई में शामिल होने से आपकी अपनी और आपके देश की स्थिति अच्छी होगी—और यह पढकर जान पडता है कि यह उन्नति केवल लडाई का विरोध भर करने के लिए ही नहीं थी।

"और इसी में से दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि कुछ भी पाने के लिए लड़ाई में योग देना ही क्यों उचित था ?

"मेरी समझ में नहीं आता कि गीता की शिक्षा से इस बात का मेल किस तरह बैठाऊं ? गीता में तो कहा है कि फल का विचार त्याग कर कर्म करना चाहिए।

"सारे अध्याय में आपने यही दलील इस्तेमाल की है कि ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता की जाय अथवा नहीं। और मैं समझता हूँ कि मूलत. सवाल व्यक्तिगत रूप में उठा होगा किन्तु यह इस किनारे तक ले ही जाता है कि युद्ध के रूप में युद्ध में हमें योगदान करना चाहिए या नहीं ?"

बेशक लड़ाई में योगदान के लिए मुझे प्रेरित करनेवाला उद्देश्य मिश्रित था। दो बातें मैं याद करता हूँ। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से मैं लड़ाई के विरुद्ध था किन्तु मेरी ऐसी स्थिति नहीं थी कि मेरे विरोध का असर पड सके। अहिंसामय विरोध तभी हो सकता है जबकि विरोध करनेवाले ने विरोधी की पहले कुछ सच्ची नि'स्वार्थ सेवा की हो, सच्चे हार्दिक प्रेम का प्रदर्शन किया हो : जैसे कि किसी जगली आदमी को पशु का बलिदान करने से रोकने के लिए मेरी तबतक कोई स्थिति नहीं होगी, जबतक कि मेरी किसी सेवा या मेरे प्रेम के कारण वह मुझे अपना मित्र न समझ ले। दुनिया का पापों का न्याय करने मैं नहीं बैठता हूँ। स्वय असंपूर्ण होने के कारण, और चूॅकि खुद मुझी को औरों की सहनशीलता तथा उदारता की दरकार है, मैं ससार की

कच्चाइयों या असपूर्णताओं को तबतक सहन करता रहता हूँ जब-तक कि उनपर प्रकाश डालने का अवसर मैं पा या बना न लूँ। मुझे लगा कि अगर मै यथेष्ट सेवा करके वह शक्ति, वह विश्वास पैदा करलूँ कि सामाम्राज्य के युद्धों और युद्ध की तैयारियों को रोक सकूँ तो मेरे जैसे आदमी के लिए यह बड़ी अच्छी बात होगी जो खुद अपने ही जीवन मे अहिंसा का व्यव-हार करना चाहता है तथा यह भी जाँचना चाहता है कि सामूहिक रूप मे इसका कहाँ तक उपयोग किया जा सकता है।

दूसरा उद्देश्य साम्राज्य के राजनीतिज्ञों की सहायता से स्वराज्य की योग्यता पैदा करने का था। साम्राज्य के इस जीवन-मरण की समस्या मे उसे सहायता दिये विना यह योग्यता मुझ मे आ नहीं सकती थी। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि मै सन् १९१४ ई० की अपनी मानसिक स्थिति की बात लिख रहा हूँ जब कि मैं ब्रिटिश साम्राज्य और हिन्दुस्तान के उसके स्वेच्छा-पूर्वक सहायता देने की बात मे विश्वास करता था। अगर मै तब भी आज-जैसा अहिंसक विद्रोही होता तो अवश्य ही सहायता न देता वल्कि अहिंसा के जरिये जिस जिस तरह उनका उद्देश्य चौपट होता, करने की सभी कोशिशें करता।

युद्ध के प्रति मेरा विरोध और उसमे अविश्वास तब भी आज के ही जैसे सबल थे। मगर हमे यह मानना पड़ता है कि हम बहुत से काम करना नहीं चाहते तो भी उन्हें करते ही है। मै छोटे से छोटे सजीव प्राणी को मारने के उतना ही

विरुद्ध हूँ, जितना कि लडाई के; किन्तु मैं निरन्तर ऐसे जीवों के प्राण इस आशा में लिये चला जाता हूँ कि किसी दिन मुझ मे यह योग्यता आजायगी कि मुझे यह हत्या न करनी पड़े। यह सब होते रहने पर भी अहिंसा का हिमायती होने का मेरा दावा सही होने के लिए यह परमावश्यक है कि मैं इसके लिए सच-मुच में, जी-जान से और अविराम प्रयत्न करता रहूँ। मोक्ष अथवा शरीरी अस्तित्व की आवश्यकता से मुक्ति की कल्पना का आधार है सम्पूर्णता को पहुँचे हुए पूर्ण अहिंसक स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता। संपत्ति मात्र के कारण कुछ न कुछ हिंसा करनी ही पडती है। शरीररूपी सम्पत्ति की रक्षा के लिए भी चाहे कितनी थोडी हो, पर हिंसा तो करनी ही पडती है। बात यह है कि कर्त्तव्यों के धर्म संकट में से सच्चा मार्ग ढूँढ लेना सहज नहीं है।

अन्त मे, गीता की उस शिक्षा के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि हमारे कामों के मूल में कोई स्वार्थी उद्देश्य नहीं होना चाहिए। स्वराज्य लेने का उद्देश्य स्वार्थपूर्ण नहीं है। दूसरे कर्म फल का मोह छोड़ने का अर्थ यह नहीं है कि उससे अनभिज्ञ रहा जाय या उनकी उपेक्षा की जाय या उनका विरोध किया जाय। मोहरहित होने का अर्थ यह कभी नहीं है कि जिसमें अपेक्षित फल न पावे, इसलिए कर्म करना ही छोड दिया जाय। इसके उलटे मोह-हीनता ही इस अचल श्रद्धा का प्रमाण है कि सोचा हुआ फल अपने समय पर जरूर होगा ही।

हिन्दी 'नवजीवन' : १९ मार्च १९२८

: ५ :

युद्ध के प्रति मेरे भाव

[गांधी जी के द० अफ्रीका में बोअर युद्ध के समय तथा यूरोपियन महासमर के समय सरकार को सहायता देने के संबंध में एक यूरोपियन रेवरेंड बी० लाइट इवोल्यूशन नामक फ्रांसीसी पत्र में एक लेख लिखकर कुछ सवाल पूछे हैं। य० इं० मे गांधीजी उनका जवाब यों देते हैं।]

सिर्फ अहिंसा की ही कसौटी पर कसने से मेरे आचरण का बचाव नहीं किया जा सकता। अहिसा की दृष्टि से, शास्त्र धारण कर मारनेवालों मे और नि:शस्त्र रहकर घायलों की सेवा करनेवालों मे मै कोई फर्क नहीं देखता। दोनों ही लडाई मे शामिल होते हैं और उसी का काम करते हैं। दोनों ही लडाई के दोष के दोषी हैं। मगर इतने वर्षों तक आत्मनिरीक्षण करने के बाद भी मुझे यही लगता है कि मैं जिस परिस्थिति मे था, मेरे लिए वही करना लाजिम था जो कि मैंने बोअर युद्ध, यूरोपियन महासमर, और जुलू बलवे के समय भी सन् १९०६ मे किया था।

जीवन का सचालन अनेक शक्तियों के द्वारा होता है। अगर कोई ऐसा सर्वसामान्य नियम होता कि उसका प्रयोग करते ही हर प्रसग मे कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने के लिए क्षण मात्र भी सोचना नहीं पडता तो क्या ही सरलता होती। मगर मेरे जानते तो ऐसा एक भी अवसर नहीं है।

मै स्वयं युद्ध का पक्का विरोधी हूँ इसलिए मैंने अवसर मिलने पर भी कभी मारक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करना नहीं सीखा है। शायद इसीलिए मै प्रत्यक्ष नर-नाश से बच सका हूँ। मगर जबतक मैं पशुबल पर स्थापित सरकार के अधीन रहता था और उसकी दी हुई सुविधाओं का स्वेच्छा से उपयोग करता था, तबतक तो अगर वह कोई लडाई लड़े तो उसमे उसकी मदद करना मेरे लिए लाजिमी था। मगर जब उससे असहयोग कर लूँ और जहाँ तक अपना वश चल सके, उसकी दी सुविधाओं का त्याग करने लगूँ तब उसकी मदद करना मेरे लिए लाजिमी नहीं रहता।

एक 'उदाहरण लीजिए' मै एक सस्था का सभ्य हूँ। उस संस्था के कुछ खेती है। अब आशका है कि उस खेती को बदर नुकसान पहुँचावेंगे। मैं मानता हूँ कि सभी प्राणियों मे आत्मा है और इसलिए बदरों को मारना हिंसा समझता हूँ। मगर फस्ल को बचाने के लिए बदरों पर हमला करने को कहने या करने से मैं नहीं झिझकता। मैं इस बुराई से बचना चाहूँगा। उस सस्था को छोड़कर या तोडकर मैं इस

बुराई से बच सकता हूँ। मगर मैं यह नहीं करता क्योंकि इसकी मुझे आशा नहीं है कि यहाँ से हटने पर मुझे कोई ऐसा समाज मिल सकेगा जहाँ खेती न होती हो इसलिए किसी किस्म के प्राणियों का कभी नाश न होता हो। इसलिए यद्यपि यह कहते हुए मुझे दर्द होता है मगर तो भी इस आशा में कि किसी दिन इस बुराई से बचने का रास्ता मुझे मिल जायगा, मैं दीनता के साथ, डरते हुए और काँपते हुए दिल से बंदरों पर चोट पहुँचाने में शामिल होता हूँ।

इसी तरह मैं तीनों युद्धों में भी शामिल हुआ था। जिस समाज का मैं एक सदस्य हूँ उससे अपना सबन्ध मैं तोड़ नहीं सकता था। तोड़ना पागलपन होता। इन तीनों अवसरों पर ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करने का मेरा कोई विचार न था। अब उस सरकार के संबंध में मेरी स्थिति बिलकुल ही बदल गयी है और इसलिए उसके युद्धों में मैं भरसक अपनी खुशी से शामिल नहीं होऊँगा तथा अगर शस्त्र धारण करने या और किसी तरह से उसमें शामिल होने को बाध्य किया जाऊँ तो मैं भले ही कैद किया जाऊँ या फाँसी चढ़ा दिया जाऊँ, मगर शामिल तो नहीं ही हूँगा।

मगर इससे प्रश्न अभी हल नहीं होता। अगर यहाँ पर राष्ट्रीय सरकार हो तो मैं भले ही उसके भी किसी युद्ध में शामिल न होऊँ, मगर तो भी मैं ऐसे अवसर की कल्पना कर सकता हूँ, जब कि सैनिक शिक्षण पाने की इच्छा रखने-

वालों को वह शिक्षण देने के पक्ष मे मत देना मेरा कर्तव्य हो, क्योंकि मै जानता हूँ कि अहिसा मे जिस हद तक मेरा विश्वास है, उस हद तक इस राष्ट्र के सभी आदमी अहिसा मे विश्वास नहीं करते । किसी समाज या आदमी को वलपूर्वक अहिंसक नहीं वनाया जा सकता ।

अहिसा का रहस्य अत्यत गूढ है। कभी-कभी तो अहिसा की दृष्टि से किसी आदमी के काम की परीक्षा करना कठिन हो जाता है। उसी तरह कभी-कभी उसके काम हिंसा-जैसे भी लग सकते है जव कि वे अहिसा के व्यापक से व्यापक अर्थ मे अहिसक ही हों और पीछे चलकर अहिसक ही सावित भी हों। इसलिए उपर्युक्त अवसरों पर अपने व्यवहार के वारे मे मै सिर्फ इतना ही दावा कर सकता हूँ कि उनके मूल मे अहिसा की ही दृष्टि थी। उनके मूल मे कोई वुरा राष्ट्रीय या दूसरा स्वार्थ नहीं था। मैं यह नहीं मानता कि किसी एक हित का वलिदान करके राष्ट्रीय या किसी दूसरे हित की रक्षा करनी चाहिए।

मुझे अपनी यह दलील अव और आगे नहीं वढ़ानी चाहिए। आखिर अपने विचार पूरे-पूरे प्रकट करने के लिए भाषा एक मामूली त्रुटिपूर्ण साधन मात्र है। मेरे लिए अहिसा कुछ महज दार्शनिक सिद्धान्त भर ही नहीं है। यह तो मेरे जीवन का नियम है, इसके विना मैं जी ही नहीं सकता। मै जानता हूँ कि मैं गिरता हूँ। वहुत वार चेतनावस्था मे ही। यह

प्रश्न बुद्धि का नहीं बल्कि हृदय का है। सन्मार्ग तो परमात्मा की सतत प्रार्थना से, अतिशय नम्रता से, आत्मविलोपन से, आत्मत्याग करने को हमेशा तैयार बैठे रहने से मिलता है। इसकी साधना के लिए ऊँचे से ऊँचे प्रकार की निर्भयता और साहस की आवश्यकता है। मैं अपनी निर्बलताओं को जानता हूँ और मुझे उनका दुःख है।

मगर मेरे मन में कोई दुविधा नहीं है। मुझे अपने कर्तव्य का स्पष्ट भान है। अहिंसा और सत्य को छोड़कर, हमारे उद्धार का कोई दूसरा रास्ता नहीं है। मैं जानता हूँ कि युद्ध एक तरह की बुराई है और शुद्ध बुराई है। मैं यह भी जानता हूँ कि एक दिन इसे बंद होना ही है। मेरा पक्का विश्वास है कि खूनखराबी या धोखेबाजी से ली गयी स्वाधीनता, स्वाधीनता है ही नहीं। इसकी अपेक्षा कि मेरे किसी काम से अहिंसा का सिद्धान्त ही गलत समझा जाय या किसी भी रूप में मैं असत्य और हिंसा का हामी समझा जाऊँ, यही हजारगुना अच्छा है कि मेरे विरुद्ध लगाये गये सभी अपराध अरक्षणीय, असमर्थनीय समझे जायँ। संसार हिंसा पर नहीं टिका है, असत्य पर नहीं टिका है किन्तु उसका आधार अहिंसा है, सत्य है।

हिन्दी 'नवजीवन' २० सितम्बर, १९२८

: ६ :

कौनसा मार्ग श्रेष्ठ है ?

अमरीका से एक मित्र ने वहाँ के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'दी वर्ल्ड टुमॉरो' के अगस्त १६२८ के अङ्क मे से जॉन नेविन के 'तलवार त्याग और राष्ट्रीय सरक्षण' शीर्षक एक शिक्षाप्रद और मार्मिक लेख की कतरन भेजी है। वह प्रत्येक देशप्रेमी के लिए पठनीय है। नीचे लिखे आरम्भिक वाक्यों से पाठकों को उसके साराश का पता चलेगा—

"शान्तिवाद के सम्बन्ध मे सबसे पहले यह सवाल उठता है कि इस बीसवीं सदी में, जब कि युद्ध के अस्त्र-शस्त्र इतनी अधिक सम्पूर्णता के शिखर तक पहुँच गये है और उनकी सहारक शक्ति इतनी ज्यादा बढ गई है, क्या सचमुच फौजी साधनों द्वारा राष्ट्रीय सरक्षण हो सकता है ? सभव है कि भूतकाल में फौजी साधनों की मदद से राष्ट्रीय सरक्षण हो सका होगा, मगर आज तो यह उपाय एक दम पुराना पड गया है और इसपर निर्भर रहना आफत मोल लेना है, क्योंकि आज हम देख सकते हैं कि जहाँ एक ओर फौजी सामान का खर्च दिन-दिन बढता जाता है, तहाँ दूसरी ओर सरक्षण-

सम्बन्धी उसकी उपयोगिता भी दिन-पर-दिन घटती जाती है और आगामी दशकों मे यही वात अधिकाधिक होती जायगी।

पिछले ४० वर्षों मे, यानी इस पत्र के पाठकों के जीवन में ही, सयुक्तराज्य की नौसेना का सालाना खर्च डेढ़ करोड डालर से बढकर २१ करोड ८ लाख डालर हो गया है। दूसरे शब्दो में यों कह सकते हैं कि सयुक्त राज्य अपनी फौज और नौसेना पर चौबीस घण्टो मे २० लाख डालर स्वाहा करता रहा है। 'युद्ध, मनुष्य का सबसे बडा उद्योग' शीर्षक एक अग्रलेख मे 'न्यूयार्क टाइम्स' के मार्च १९२८ वाले अङ्क मे उसके लेखक ने भली भॉति सिद्ध कर दिखाया था कि इस जमाने मे फौजी लडाई की तैयारी ही ससार का वडे से वडा उद्योग हो गया है।

मगर इसकी वजह से संसार को कितनी ज्यादा कुर्बानी करनी पडती है, उसका अन्दाजा अकेले डालरो के हिसाब से ही नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि युद्ध के शस्त्र तैयार करने में रुपया तो खर्च होता ही है, मगर इसके सिवा भी, उनकी साल-सॅभाल करने और फौजी सामान बनाने के लिए लोगों की एक बडी सख्या की जरूरत रहती है। इस तरह देशों की समस्त जनता और उनकी तमाम औद्योगिक शक्ति युद्ध की तैयारी में नष्ट होती जाती है। भूतकाल में वेतन-जीवी सिपाहियों की फौजें ही युद्ध के मैदानों मे भिडती थीं। इसलिए उन दिनों आज की अपेक्षा लोगो के एक बहुत थोडे हिस्से को युद्ध मे हाथ बॅटाना पड़ता था। मगर वर्तमान युद्धविशारद राष्ट्र की सारी जनता को युद्ध के लिए

भर्ती कर लेते हैं । फ्रांस मे तो एक ऐसा क़ानून बना देने की सिफारिश की गई है, जिसकी रू से स्त्रियों का भर्ती होना भी अनिवार्य हो जाये । शान्ति के दिनों में भी पाठशालाओं मे फौजी तालीम को अनिवार्य बना देने, राष्ट्रीय तालीम पर फौजी विभाग की सूक्ष्म देखरेख और प्रभुता रहने, आदि कारणों से देश के नौजवानों की मनोवृत्ति भी दिन-दिन ज्यादा युद्ध प्रिय होती जाती है । यही नहीं, बल्कि डाकघर, समाचार-पत्र, रेडियो, सिनेमा, विज्ञान, कला आदि क्षेत्रों के प्राणी भी धीरे-धीरे इसकी अधीनता में आते जाते हैं । इससे यह डर लगता है कि कहीं जगतव्यापी युद्ध की जो तैयारी और जो सगठन इस समय हो रहा है, उसके फन्दे में ये लोग भी शीघ्र ही न फँस जायें । अगर यह हुआ ही तो इसकी वजह से मानव जाति की स्वतत्रता को, वाणी-स्वातन्त्र्य और विचार-स्वातन्त्र्य के जन्म-सिद्ध अधिकार और सामाजिक उन्नति को घोर आघात पहुँचेगा । अर्थात फौजी साधनों द्वारा देश के सरक्षण के लिए जो कीमत चुकानी पडती है, उसमें इसकी भी गिनती होनी चाहिए । इसपर से पाठक समझ सकेंगे कि फौजी तैयारी द्वारा की गई रक्षा ससार के लिए कितनी महँगी पडती है और भविष्य मे कितनी अधिक महँगी हो पडेगी ।

लेकिन इससे भी अधिक चिन्ता की बात तो यह है कि फौजी साधन पर बराबर अनन्त धन-व्यय करते हुए भी आज जनता सुख की नींद नहीं सो सकती । संभव है, दस-बीस

साल तक जैसे-तैसे यह हालत निभ जाय, मगर आखिरकार तो इस नीति के कारण निस्सन्देह ससार पतन के गड्ढे में गिरकर रहेगा। कुछ समय पहले सेनेटर बोरा ने 'तैयारी के मानी' शीर्षक से लिखते हुए ससार की जनता पर दिन पर दिन बढनेवाले कर और सरकारी कर्ज के बढते हुए बोझ की तरफ खास तौर पर ध्यान खींचा था और कहा था—'भविष्य मे सरकारो को अपनी शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग विरोधी दल के सामने लडने मे नही, बल्कि अपनी रिआया की आर्थिक और राजनैतिक अशान्ति को दबाने मे करना होगा।' इसका नतीजा यह होगा कि राज्य जितने बडे पैमाने पर फौजी तैयारी करेंगे, उतनी ही उनकी हालत सकटमय बनेगी, क्योंकि सरकार और रिआया के बीच की खाई अधिक गहरी होती जायेगी और जनता मे निराशा तथा असन्तोष का वातावरण भी बढ़ता ही जायगा। इस हालत को सरक्षण की तैयारी कहना 'सरक्षण' शब्द का दुरुपयोग करना है। जिसकी वजह से रिआया का आर्थिक सकट घटने के बदले बढता है, वह तैयारी नहीं, बल्कि अ-तैयारी है।"

आजकल लोग सहज ही यह मान लेते है कि जो बात अमेरिका और इग्लैड के लिए उचित-अनुकूल है वही हमारे लिए भी उचित होनी चाहिए। मगर उक्त लेखक ने फौजी तैयारी के लिए आवश्यक खर्च के जो चौकानेवाले आँकड़े दिये है उनसे सचमुच हमें सावधान हो जाना चाहिए। आजकल की युद्ध-कला

केवल घातक शस्त्रों को बनानेवाली कला-मात्र रह गई है। उसमें वीरता, शौर्य या सहनशक्ति को बहुत ही थोड़ा स्थान प्राप्त है। हजारों स्त्री, पुरुष और बालकों को बटन दबाकर या ऊपर से जहर बरसाकर निमिष मात्र में नामशेष कर देना—मार डालना ही वर्तमान युद्ध-कला की पराकाष्ठा है।

क्या हम भी अपने संरक्षण के लिए इसी पद्धति का अनुकरण किया चाहते हैं? हमें इसपर विचार करना होगा कि क्या हमारे पास इस संरक्षण के लिए काफी आर्थिक साधन या शक्ति है? हम दिन-दिन बढ़ते जानेवाले फौजी खर्च की शिकायत करते हैं, मगर यदि हम इंग्लैंड या अमेरिका की नकल करने लगेंगे तो हमारा फौजी खर्च आज से कहीं अधिक बढ़ जायगा।

आलोचक शायद पूछेंगे कि अगर किसी चीज के लिए यह संरक्षण आवश्यक ही हो तो उतना भार उठाकर भी उसकी रक्षा क्यों न की जाये? लेकिन बात तो यह है कि दुनिया आज इस गम्भीर सवाल का जवाब खोजने लगी है कि यह संरक्षण कर्त्तव्य है अथवा नहीं? उक्त लेखक जोरदार शब्दों में जवाब देते हुए कहते हैं—'किसी भी राज्य के लिए यह कर्त्तव्य नहीं'। अगर यह नियम सही-सच्चा हो तो हमें भी सेना को बढाने के झंझट में न फँसना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं होता कि कोई हमसे जबरदस्ती से शस्त्र छीन ले। यह संभव नहीं कि कोई परदेशी सरकार अपनी शासित जनता से बलात् अहिंसा का पालन करा सके। हर एक देश की प्रजा को स्वेच्छापूर्वक आत्म विकास

करने की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। हमें यहाँ इस बात पर विचार करना है कि क्या हम पाश्चात्य देशों की नकल-भर करना चाहते हैं? वे आज जिस नरक में से गुजर रहे हैं क्या हम भी उसी रास्ते जाना चाहते हैं? और फिर भी आशा रखते हैं कि भविष्य में किसी समय हम पुनः दूसरे पथ के पथिक बन जायेंगे? या हम अपने सनातन शान्ति-पथ पर दृढ रहकर ही स्वराज्य पाना और दुनिया के लिए एक नया मार्ग खोज निकालना चाहते हैं?

तलवार-त्याग की इस नीति में भीरुता को कहीं कुछ भी स्थान नहीं है। अपने संरक्षण के लिए हम अपना शस्त्रबल बढ़ावें और मारक शक्ति में वृद्धि भी करें, तो भी अगर हम दुःख सहने की अपनी ताकत नहीं बढ़ाते, तो यह निश्चय है कि हम अपनी रक्षा कदापि न कर सकेंगे। दूसरा मार्ग यह है कि हम दुःख सहन करने की ताकत बढ़ाकर विदेशी शासन के चंगुल से छूटने का प्रयत्न करें। दूसरे शब्दों में, हम शान्तिमय तपश्चर्या का बल प्राप्त करें। इन दोनों तरीकों में वीरता की समान आवश्यकता है। यही नहीं, बल्कि दूसरे में व्यक्तिगत वीरता के लिए जितनी गुंजाइश है, पहले में उतनी नहीं। दूसरे पथ के पथिक बनने से भी थोडी-बहुत हिंसा का डर तो रहता ही है, मगर यह हिंसा मर्यादित होगी और धीरे-धीरे इसका परिमाण घटता जायेगा।

आजकल हमारा राष्ट्रीय ध्येय अहिंसा का ध्येय है। मगर मन

और वचन से तो हम मानों हिसा ही की तैयारी करते हैं। सारे देश मे अधीरता का वातावरण फैला हुआ है, ऐसे समय हमारे हिसा मे प्रवृत्त न होने का एकमात्र कारण हमारी अपनी कमजोरी है। ज्ञान और शक्ति का भान होते हुए भी तलवार-त्याग करने मे ही सच्ची अहिसा है। मगर इसके लिए कल्पना-शक्ति और जगत की प्रगति के रुख को पहचानने की शक्ति होनी चाहिए। आज हम पश्चिमी देशों की वाहरी तड़क-भडक से चौंधिया गये है, और उनकी उन्मत्त प्रवृत्तियों को भी प्रगति का लक्षण मान वैठे हैं। फलस्वरूप हम यह नहीं देख पाते कि उनकी यह प्रगति ही उन्हे विनाश की ओर ले जा रही है। हमे समझ लेना चाहिए कि पाश्चात्य लोगों के साधनों द्वारा पश्चिमी देशों की स्पर्धा मे उतरना अपने हाथों अपना सर्वनाश करना है। इसके विपरीत अगर हम यह समझ सके कि इस युग मे भी जगत् नैतिक वल पर ही टिका हुआ है, तो अहिसा की असीम शक्ति मे हम अडिग श्रद्धा रख सकेंगे और उसे पाने का प्रयत्न कर सकेंगे। सव कोई इस वात को मजूर करते हैं कि अगर सन १६२२ मे हम अन्त तक शान्तिपूर्ण वातावरण वनाये रखने मे सफल होते-तो हम अपने ध्येय को सम्पूर्ण सिद्ध कर सकते। फिर भी हम इस वात की जीती-जागती मिसाल तो पेश कर ही सके थे कि नगण्य-सी अहिंसा भी कितनी असाधारण हो सकती है। उन दिनों हमने जो उन्नति की थी, आज भी उसका प्रभाव कायम है। सत्याग्रह-युग के पहले की भीरुता आज हम मे नहीं

है। वह सदा के लिए मिट गई है। अगर हम अहिंसा-बल पाने की इच्छा रखते हैं तो हमे धैर्य से काम लेना होगा, समय की प्रतीक्षा करनी होगी। यानी, अगर सचमुच ही हम अपनी रक्षा करना चाहते हों और ससार की प्रगति मे स्वय भी हाथ बँटाने की इच्छा रखते हों, तो उसके लिए तलवार-त्याग, पशुबल-त्याग के सिवा दूसरा कोई रास्ता है ही नही।

हिन्दी 'नवजीवन' ५ सितम्बर, १६२६

: ७ :

अहिंसक की विडम्बना

बी० द लाइट नामक हालैण्ड के एक लेखक ने अहिंसा-सम्बन्धी विचारों के बारे मे एक लम्बा पत्र कुछ महीने पहले लिखा था। लेखक यूरोप के अहिंसावादियों मे से एक हैं और जुलू विद्रोह और बोअर युद्ध मे गाधीजी ने जो भाग लिया था उसके और पिछले युद्ध के समय जो रँगरूटों की भरती की थी उसके बारे मे उन्होंने कडी आलोचना की थी। अब उन्होंने गाधीजी को दूसरा पत्र लिखा है। उसका सार नीचे दिया जाता है। गाधीजी ने 'यगइण्डिया' मे जो उत्तर दिया वह भी इसीके साथ दिया जाता है। पत्र इस प्रकार है—

"पूज्य गाधीजी

आपके अहिंसा-सम्बन्धी विचारों पर मैं जैसे-जैसे विचार करता जाता हूँ वैसे-वैसे मुझे ऐसा लगता है कि आपने अपने देश की दृष्टि से ही इस सम्बन्ध मे विचार किया है, सारी दुनिया की दृष्टि से विचार नहीं किया है। उदाहरण के लिए नेहरू-रिपोर्ट को आप स्वीकार करते हैं। उसमें जो विधान

बनाया गया है उसको आपने कबूल किया है और उसके अन्तर्गत देश की रक्षा की व्यवस्था भी आपने स्वीकार की है। डोमी-नियन स्टेटस की यह सारी रचना ही ऐसी है कि इसमें आपके देश के गरीबों का ही शोषण होनेवाला है, क्योंकि अगर ऊपर के वर्ग के हाथ में राजसत्ता आये तो वह वर्ग ऊपर के वर्ग के विदेशियों के साथ रहकर अपनी शासन-पद्धति तय करेगा। आपके देश को भी अपनी रक्षा के लिए जल, स्थल और वायु-सेना की आवश्यकता होगी ऐसा जब आप कहते हैं तब तो हो चुका। दूसरे देशों में आपस में शस्त्रास्त्र की जो प्रतियोगिता चल रही है उसे आपका देश भी उत्तेजन देगा। मुझे ऐसा लगता है कि ऐसी हालत में टॉलस्टॉय ने, जिनके कि अहिंसा के विचार आपको पसंद हैं, अलग ही रास्ता लिया होता।

लड़ाई ऐसी भयानक वस्तु है कि उसका उपयोग राष्ट्र-रक्षा के लिए ही नहीं बल्कि समाज-रक्षा के लिए भी बन्द होना ही चाहिए। आज तो ऐसी स्थिति आ गई है कि प्रत्येक देश के अहिंसावादी स्त्री-पुरुषों को अपनी यह प्रतिज्ञा प्रकट करनी चाहिए कि "हम किसी भी अवस्था में युद्ध के किसी भी साधन को तैयार करने में या उपयोग में लाने में भाग न लेंगे और ऐसा प्रयत्न करेंगे कि ऐसे साधनों की उत्पत्ति और उपयोग बन्द होते जायें। सच पूछिए तो लड़ाई और हिंसा के साधनों से हमारे देश को स्वतन्त्रता मिले इसकी अपेक्षा

वह स्वतन्त्रता—जो कि दिन पर दिन केवल नाम मात्र की ही होती जाती है—खो देना ज्यादा पसन्द करेंगे।

आपका देश 'डोमीनियन स्टेटस' प्राप्त करेगा—इसका यह अर्थ हुआ कि उसे साम्राज्य के अन्तर्गत रहना पड़ेगा। और वह सशस्त्र होगा यानी उसके लिए उसे विदेशी धन, विदेशी बैंक आदि के ऊपर आधार रखना पड़ेगा और परदेशी धनिक आज विश्व का साम्राज्य प्राप्त करने को जूझ रहे हैं यह आप जानते ही हैं? यानी आज राष्ट्रीयता का आदर्श रखने और संपादन करने में एक बड़ा भारी जोखिम है। आज तो सारी पीड़ित प्रजा और कौमों का संगठन करके पीड़क प्रजा के पंजे में से उसे मुक्त करने की लड़ाई लड़नी चाहिए।

लेकिन पूज्य गांधीजी, आज तो आप केवल अपने ही देश का विचार कर रहे हैं। आपका देश गुलामी के बन्धन में से मुक्त हो यह तो हम भी चाहते हैं, क्योंकि हमारे राज्य ने काले लोगों पर जो अत्याचार किये हैं उससे काले लोग मुक्त हो यह हम चाहते ही हैं। परन्तु विदेशी-राज्य के पंजे से छूटने के लिए आप भी जब ऐसे साधनों का उपयोग करें कि जिनके दुरुपयोग होने की पूरी संभावना है, तब तो हमें भी उसका विरोध करना पड़ता है। आप कहते हैं कि आज तक भारत को जबर्दस्ती दूसरे देशों को लूटने-वाली कई लड़ाइयों में भाग लेना पड़ा है। तब आपसे यह कहने की इच्छा होती है कि "नहीं, आप भर इसके लिए जिम्मेदार हैं। आप अगर इन लड़ाइयों से दूर रहना चाहते तो रह सकते थे।"

हमें आप कहते है कि लड़ाई चलाने के लिए लिये जानेवाले टैक्स को देना भी लड़ाई में भाग लेने के बराबर है। आपकी बात सत्य है। हम लड़ाई मे प्रत्यक्ष भाग न लेने का आदोलन तो करते है पर कर न देने जितने अश तक नहीं जा पाये है। यद्यपि हम-मे से कुछ ने तो कर देना भी बद किया है। लेकिन कर न दें तो सरकार हमारी जायदाद जब्त कर सकती है इस कारण यह रीति कोई बहुत कार्यसाधक तो नहीं ही है।

चाहे जो हो, गोरे लोग काले लोगो को जिस प्रकार लूट रहे हैं उसमें से कालों को छुड़ाने की आपकी इस लड़ाई मे तो हम आपके साथ ही है। चूहे और बिल्ली का जैसा सम्बन्ध तो सारे देश मे बन्द ही होना चाहिए। लेकिन चूहा—चूहा मिटकर कुत्ता बने और बिल्ली के ऊपर सिरजोरी करे यह भी कोई ऐसी स्थिति नहीं है जिसे पसन्द किया जाये। इसीलिए हम अपने ही लोगों मे नहीं बल्कि दूसरे लोगो को भी हिसा मात्र से दूर रहने के लिए कहते है। अहिंसा के व्यावहारिक उपयोग समझाने में आपने कुछ कम भाग नही लिया है।

ग्रेट ब्रिटेन का हृदय परिवर्तन करने की आप आशा रखते हों तो आज की कहे जानेवाली समाजवादी ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करके आप ऐसा नहीं कर सकेंगे। ब्रिटेन के युद्ध-विरोधी मडलों के साथ सहयोग करके ही आप ऐसा कर सकेंगे। मैकडॉनल्ड के मत्रिमडल ने अपने ही देश के लोगों को सताने मे क्या कसर रखी है? आपके सामने भले ही वे दिखावटी तौर पर विनय-विवेक

से काम लें, आपको शोभा-स्वरूप उपदेश दे पर तत्त्व की चीज कुछ न देंगे। आपने हमेशा मुझे आपकी आलोचना करने की छूट दी है इसलिए इतना लिखने की धृष्टता करता हूँ। चाहे जो हो आज विश्वजीवन इतना अखंड हो गया है कि राष्ट्र के हित की दृष्टि से भले विचार न करें पर विश्व की दृष्टि से तो जरूर विचार किया जा सकता है।"

रेवरेण्ड वी० द लाइट का पत्र पाठकों के पढ़ने योग्य है। अहिंसा के शोधक और साधक को ऐसे पत्र का स्वागत करना चाहिए। इसपर आदरपूर्वक विचार करना चाहिए। मित्रभाव से ऐसी चर्चा करने से अहिंसा की शक्ति और मर्यादाओं का अधिक स्पष्ट ध्यान आ सकता है।

मनुष्य चाहे जितने तटस्थ-भाव से विचार करने का प्रयत्न करे तो भी वह अपने वर्तमान वातावरण और पूर्व संस्कार से एक दम अलग रहकर विचार नहीं कर सकता। दो जुदी-जुदी स्थिति में रहते हुए व्यक्तियों की अहिंसा बाह्य रीति से एक ही स्वरूप की न होगी। उदाहरणार्थ क्रोधी पिता के सामने बालक पिता की हिंसा को ध्यानपूर्वक सहन करने ही अपनी अहिंसा बता सकता है। परन्तु बालक ने क्रोध किया हो तो पिता बालक के समान नहीं बरतेंगे। ऐसे बरताव का कोई अर्थ ही नहीं होगा। पिता तो बालक को अपनी छाती से लगाकर बालक की हिंसा को एक दम निष्फल कर देगा। दोनों प्रसंगों के बारे में मान लिया गया है कि दोनों का बाह्य कृत्य अपनी आंतरिक इच्छा का प्रतिबिंब है। इसके विरुद्ध

कोई मनुष्य अपने हृदय में वैर रखकर केवल वणिक-बुद्धि से सामनेवाले की हिंसा के वश हो जाये तो वह सच्चा अहिंसक नहीं कहा जा सकता। और अगर वह अपना इरादा गुप्त रखे तो दभी भी कहा जायेगा। फिर यह भी याद रखना चाहिए कि अहिंसा का प्रयोग तो तभी हो सकता है जबउसे हिंसा का मुकाबिला करना हो। प्रतिहिंसा की जहाँ हस्ती ही नहीं है वहाँ अहिंसक रहनेवाला अपनी अहिंसक निष्चेष्टता के लिए यश प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि जहाँ सामने हिंसा खडी न हो वहाँ अहिंसा की परीक्षा कैसे हो सकती है?

'डोमीनियन स्टेटस' की तो बात ही अब उड गई है, इसलिए उससे पैदा होनेवाले मुद्दों पर चर्चा करने की कोई जरूरत नहीं है। हाँ, इतना कह सकते है कि अगर भारत ने सच्चा 'डोमीनियन स्टेटस' प्राप्त किया होता तो साम्राज्य के अधीन रहने के बदले समान यानी सख्या बढने के कारण एक बड़े भागीदार जैसा भागीदार बनता और ग्रेट ब्रिटेन की विदेशी नीति तय करने मे वह प्रधान हिस्सा लेता।

नेहरू-रिपोर्ट को मैंने सामान्य रूप मे हृदय से स्वीकार किया है इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि उसके प्रत्येक शब्द को मैंने स्वीकार किया है। भावी स्वतत्र भारत की रक्षा के लिए जो व्यवस्था होगी उस सबको मेरी सहमति होगी यह मान लेने की भी जरूरत नहीं है। भारत जिस दिन स्वतत्र होगा

उस समय जो प्रश्न पैदा होंगे उसके बारे तो आज से ही अपने देशभाइयों के साथ लडाई करने के लिए मेरे अन्दर की अहिंसा मुझे रोक रही है। भविष्य के वर्ताव के बारे में आज चर्चा करना निरर्थक है। ऐसा करने मे व्यर्थ के मतभेद पैदा होंगे, जहर बढ़ेगा और उतने अश मे अहिंसा को भी धक्का लगेगा। यह भी बहुत सम्भव है कि आजादी की लड़ाई समाप्त होने बाद भी अगर मै जीता रहा तो मुझे अपने देशभाइयों के साथ भी कई प्रसगों पर अहिंसक लडाई लड़नी पड़े। और जैसी आज मै लड़ रहा हूँ वैसी ही भयकर हो। परन्तु यदि इच्छापूर्वक अहिंसक साधनों की खोज करके उनका उपयोग करने से हमने स्वराज्य प्राप्त किया है यह सिद्ध हो जाये तो आज बड़े-बड़े नेता लोग जो फौजी योजनाएँ तैयार कर रहे हैं वे उनको एक दम अनावश्यक लगेंगी ऐसा बहुत सम्भव है।

आज तो अपने देशबन्धुओं से मेरा सहयोग गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ने तक ही सीमित है। वह बेडी तोड़ने के बाद हमारी कैसी दशा होगी और हम क्या करेंगे इसकी बात न मैं ही कुछ कर सकता हूँ न वे ही। मेरी जगह टॉल्स्टॉय दूसरी तरह बरतते या नहीं इसका तर्क करना निरर्थक है। मै तो आज अपने यूरोपियन मित्रों को इतना ही विश्वास दिला सकता हूँ और वह काफी है कि मैंने अपने किसी भी कृत्य से जान-बूझकर हिंसा का समर्थन नहीं किया और अपने अहिंसा-धर्म को कालिख नहीं लगाई।

बोअर युद्ध मे और जुलु बलवे के समय ब्रिटेन के साथ रह-कर जो मैने हिंसा का स्पष्ट अङ्गीकार किया था वह भी सिर पर आ पडी हुई अनिवार्य स्थिति मे अहिंसा के लिए ही किया था। परन्तु यह भी सभव है कि वह अङ्गीकार या सहयोग अपनी कमजोरी के कारण अथवा अहिंसा के विश्वधर्मत्व के अपने अज्ञान के कारण मैने किया हो। हालॉकि मेरी आत्मा ऐसा नहीं कहती कि उस समय या आज भी किसी कमजोरी या अज्ञान के वश होकर मैने ऐसा किया था।

अगर हिंसा के ऊपर आधार रखनेवाले किसी तत्र के आधीन अनिच्छापूर्वक होना पडे तो उसमे परोक्ष भाग लेने के बदले प्रत्यक्ष भाग लेना ही अहिंसावादी पसन्द करेगा। अमुक अ श मे हिंसा पर आधार रखनेवाले जगत मे मै रहा हूँ, अगर मेरे पड़ो-सियों का सहार करने के लिए जो सेना रखी जाती है उसके लिए कर देने या सेना मे भरती होने इन दो बातों मे से अगर मुझे एक चुनना हो तो हिंसा की ताकत पर अ कुश प्राप्त करने के लिए और अपने साथियों का हृदय-परिवर्तन करने की आशा मे मै सेना मे भरती होना ज्यादा पसन्द करूँगा, बल्कि ऐसा किये बिना मेरी कोई गति नहीं। और ऐसा करते हुए मै नही मानता कि मेरे अहिंसा-धर्म मे कोई बाधा आती है।

राष्ट्रीय स्वतत्रता कोई आकाश-कुसुम नहीं है, व्यक्तिगत स्वतत्रता जितनी ही वह भी आवश्यक है। पर अगर दोनों अहिंसा पर अवलम्बित हों तो दूसरे राष्ट्र अथवा दूसरे व्यक्ति की

इतनी ही स्वतंत्रता के लिए वह नुकसानदेह साबित न होंगे। और जो व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बारे में है वही अन्तर्राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बारे में भी है। कानून का एक सूत्र है कि अपनी स्वतंत्रता का इस प्रकार उपभोग करो कि जिससे दूसरे की स्वतंत्रता को नुकसान न पहुँचे। यह सूत्र नीति के सूत्र-जैसा ही है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह नियम भी शाश्वत है। पिंड के लिए तो एक नियम है और ब्रह्माण्ड के लिए दूसरा, ऐसी बात नहीं है।

नवजीवन, २ फरवरी, १९३०

: ८ :

विरोधाभास

एक भाई कटाक्षपूर्ण ढंग पर निम्नलिखित कई महत्त्व के प्रश्न पूछते हैं

"जब जुलु लोगों ने उनकी स्वतन्त्रता को अपहरण करनेवाले अंग्रेज़ों का सामना किया, तब उस कथित विद्रोह को दबाने में आपने ब्रिटिश सत्ता की मदद की। विदेशी सत्ता के जुए को उतार फेंकने के लिए किये जानेवाले प्रयत्नों को क्या विद्रोह का नाम दिया जाना चाहिए? फ्रांस की जॉन ऑव आर्क, अमेरिका के जार्ज वाशिंग्टन, आजकल के डी वेलेरा—क्या इन सभी को विद्रोही कहना चाहिए? आप कहेंगे कि जुलु लोगों ने हिंसा मार्ग को अपनाया। मैं कहता हूँ कि इस साधन को अनुपयुक्त कहा जाये तो भी क्या उनका ध्येय हीन कोटि का था? अत मेरी यह समस्या हल कर दीजिए।

"दूसरे, गत महायुद्ध में भी जब जर्मनी और आस्ट्रिया के शूरवीर अपने विरोध में खडी हुई सारी दुनिया से लड रहे थे, उस समय भी आपने जर्मनी और आस्ट्रिया की प्रजा के विरुद्ध अंग्रेज़ों

के पक्ष मे लडने के लिए रंगरूट भर्ती करने का आयोजन किया था। जर्मनी और आस्ट्रिया की प्रजा ने तो भारतीयों का कुछ भी नहीं बिगाडा था। जब दो राष्ट्रों में युद्ध प्रारम्भ हो, तब उनमे से किसी एक का पक्ष लेने का निर्णय करने के पहले मनुष्य को दोनों पक्षों की बात सुन लेनी चाहिए। गत महायुद्ध के समय तो हमारे सामने एक ही पक्ष का राग अलापा जाता था, और खुद उस राग को अलापनेवाली प्रजा भी उसकी प्रामाणिकता अथवा सचाई के विषय में कुछ असदिग्ध न थी। सत्याग्रह और अहिंसा के शाश्वत हिमायती होकर भी आपने उन लोगों को, जो युद्ध के धार्मिक अथवा अधार्मिक होने के बारे मे अँधेरे मे थे, क्यों साम्राज्य तृष्णा के कीचड में हाथ-पाँव पीटनेवाली प्रजा की भूख शान्त करने के लिए लडने का प्रलोभन दिया? आप कहेंगे कि उस समय आपको ब्रिटिश नौकरशाही में श्रद्धा थी। जिस विदेशी प्रजा का एक-एक कृत्य उसके दिये हुए वचनों के सरासर विपरीत सिद्ध हुआ है, क्या उसमें श्रद्धा रखना किसी भी मनुष्य के लिए सम्भव हो सकता है? फिर आप जैसे बुद्धिमान प्रतिभाशाली पुरुष के लिए ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है? इस दूसरी गुत्थी का भी मुझे आपके पास से उत्तर चाहिए।

"एक तीसरी बात और मुझे कहनी है। आप अहिंसावादी हैं। और आज की स्थिति में तो भले ही हमारे लिए कट्टर अहिंसावादी रहना उचित हो सकता है, किन्तु, जिस समय भारतवर्ष स्वतन्त्र होगा और यदि उस समय किसी विदेशी राष्ट्र ने हम

पर आक्रमण किया, तो क्या उस समय भी हम हथियारो को छूना पाप मानेंगे ? इसी प्रकार जब रेल, तार और जहाज इस देश के माल को विदेश भेजने के साधन न रहेंगे, तब भी क्या आप उनका बहिष्कार करने का ही प्रचार करेंगे ?"

मेरे व्यवहार मे परस्पर विरोधी बाते रहती है, ऐसी अनेक आलोचनाएँ मैने सुनी और पढ़ी है, किन्तु उन के साथ मेरे अकेले का सम्बन्ध होता है, इसलिए मै अधिकतर उनके जवाब देने के पचड़े मे नहीं पड़ता। परन्तु उपरोक्त भाई ने जो प्रश्न पूछे है, वे यद्यपि मेरे लिए नये नही हैं, तथापि सामान्य कोटि के होने के कारण उनकी यहाँ चर्चा करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

जुलु विद्रोह के समय ही मैने अपनी सेवाएँ ब्रिटिश सरकार को अर्पित नहीं कीं, बल्कि उसके पूर्व बोअर युद्ध के समय भी की थी। और पिछले युद्ध के समय मै रगरूट भर्ती करने के लिए ही नही घूमा, बल्कि जब सन् १६१४ मे युद्ध शुरू हुआ तो स्वय लन्दन मे मैने घायल सिपाहियों को मदद पहुँचाने के लिए 'स्वय-सेवक दल' का भी निर्माण किया था।

इस प्रकार यदि मैने पाप किया है तो भरपूर किया है, इसमे कोई शक नही। मैने तो प्रत्येक समय सरकार की सेवा करने के एक भी सयोग को हाथ से नहीं जाने दिया। इन सब अवसरों पर केवल दो ही प्रश्न मेरे सामने होते थे। मै उस समय अपने को जिस सरकार का नागरिक मानता था, उसके

नागरिक की हैसियत से मेरा धर्म क्या है? दूसरे एक चुस्त अहिंसावादी की हैसियत से मेरा धर्म क्या है?

आज मैं यह जानता हूँ कि मेरी वह मान्यता गलत थी कि मैं सरकार का नागरिक था। परन्तु उपरोक्त चारों प्रसंगों पर मैं यह प्रामाणिकता के साथ मानता था कि अनेक बाधाओं के बीच गुजरते हुए भी मेरा देश स्वतन्त्रता की ओर प्रगति कर रहा है और व्यापक दृष्टि से देखा जाये तो लोक-दृष्टि से भी सरकार सर्वथा खराब नहीं है। इसी प्रकार ब्रिटिश अधिकारी भी स्थूल और धीमे होते हुए भी प्रमाणित हैं।

ऐसी मनोदशा होने के कारण मैंने वही करने का प्रयास किया जो कोई भी अंग्रेज करता। स्वतन्त्र कार्य प्रारम्भ करने जितना योग्य और मूल्यवान मैंने अपने आपको नहीं समझा। मुझे ऐसा प्रतीत नहीं हुआ कि मुझे सरकारी कर्मचारियों के निर्णयों पर न्यायाधीश बनना चाहिए। बोअर युद्ध के समय, जुलु विद्रोह के समय और पिछले महायुद्ध के समय भी मैं सरकार के मन्त्रियों में मैं दुष्ट बुद्धि का आरोप नहीं करता था अंग्रेज लोग खासकर बुरे होते हैं अथवा अन्य मनुष्यों से निम्न कोटि के होते हैं, ऐसा मैंने उस समय भी नहीं माना और न आज ही मानता हूँ। मैं उस समय भी उन्हें किसी भी प्रजा के समान उच्च, आदर्श रखने और उच्च कार्य करने योग्य और उसी प्रकार भूल कर सकनेवाले प्राणी मानता था और अब भी मानता हूँ।

इसलिए मुझे महसूस हुआ कि सरकार के संकट के क्षणों में एक मनुष्य और एक नागरिक के नाते अपनी अल्प सेवा अर्पित करके मैंने अपने धर्म का पालन किया। स्वराज्य मे भी प्रत्येक देशवासी से मैं अपने देश के प्रति ऐसे ही व्यवहार की आशा रखता हूँ। यदि हर समय और हर अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति स्वय ही अपना कानून बनाने लगे और सूक्ष्म तराजू से अपनी भावी राष्ट्रीय महासभा के प्रत्येक कार्य को तौलने लगे तो मुझे भारी दुःख हो। मैं तो अनेक विषयों के सम्बन्ध में राष्ट्र के प्रतिनिधियों के निर्णय के आगे अपने व्यक्तिगत निर्णय को ताक मे रखकर राष्ट्र की आज्ञा को सिर-माथे पर चढाना पसन्द करूँ। केवल इन प्रतिनिधियों को चुनने मे मै विशेष सावधानी से काम लूँ। मै जानता हूँ इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से प्रजाकीय सरकार एक दिन भी नही चलाई जा सकती।

यह तो हुई उस समय के मेरे व्यवहार की मीमासा। किन्तु आज के विषय मे क्या ?

आज मेरे सामने सारा नकशा ही बदल गया है। मुझे प्रतीत होता है कि मेरी आँखें खुल गई है। अनुभव ने मुझे अधिक समझ प्रदान की है। आज मै वर्तमान राजतन्त्र को सम्पूर्णतः विकृत तथा या तो सुधारने या दफना देने योग्य समझता हूँ। इस विषय मे मुझे तनिक भी शका नहीं रह गई है कि उसके भीतर अपने आपको सुधारने की किंचित शक्ति

नहीं है। मैं मानता हूँ कि आज भी ऐसे अनेक अंग्रेज़ अधिकारी पड़े हैं जो प्रामाणिक हैं, किन्तु इससे आज हिन्दुस्तान का कुछ भला नहीं हो सकता, कारण इतने दिन मैं जिस भ्रमवश अन्धा बना हुआ था, मेरे खयाल से वे भी उसी भ्रम के शिकार हैं। अत आज मैं इस सरकार को अपनी कहकर अथवा अपने को इसका नागरिक कहलाकर कोई अभिमान नहीं मान सकता। इसके विपरीत इस सरकार मे मेरा एक अछूत का सा दर्जा है, यह मुझे सूर्य के समान स्पष्ट प्रतीत होता है, इसलिए जिस प्रकार हिन्दू जाति का एक अछूत हिन्दू धर्म अथवा हिन्दू समाज को शाप दे सकता है, उसी प्रकार मुझे भी या तो इस सरकार की कायापलट होने की नहीं तो उसके समूल नाश की प्रार्थना करनी पड़ेगी।

दूसरा अहिंसा-सम्बन्धी प्रश्न अधिक सूक्ष्म है। जहाँ मेरी अहिंसा भावना तो मुझे हमेशा हरेक प्रवृत्ति मे से निकल भागने की प्रेरणा करती है, वहाँ मेरी आत्मा को जबतक दुनिया मे एक भी अन्याय अथवा दु ख का असहाय साक्षी बनना पड़ता है, तबतक वह सुखी होने से इन्कार करता है। किन्तु मेरे जैसे दुर्बल अल्प जीव के लिए दुनिया का प्रत्येक दु ख मिटा सकना अथवा दिखाई पडनेवाले प्रत्येक अन्याय के विषय मे शक्ति भर कर गुजरना सम्भव नहीं। इस दुहरी खींचा-तान से मुक्त रहने का मार्ग है, किन्तु वह स्थिति बहुत धीमी गति से और अनेक व्यथाओं के बाद ही प्राप्त हो सकती है। कार्य मे

प्रवृत्त होने से इन्कार करके नहीं, बल्कि बुद्धिपूर्वक निष्काम कर्म करते हुए मुझे वह मुक्ति प्राप्त करनी है। और इस लड़ाई का रहस्य ही इस बात मे समाया हुआ है कि आत्मतत्त्व को मुक्त और पूर्ण स्वाधीन करने के लिए शरीर तत्व का सतत यज्ञ किया जाय।

इसके अलावा जहाँ मैं एक ओर दूसरे लोगों के समान सामान्य बुद्धिवाला अहिंसावादी नागरिक था, वहाँ बाकी के लोग वैसे अहिंसावादी न होते हुए भी सरकार के प्रति रोष और द्वेष-भाव के कारण ही उसकी मदद करने के कर्त्तव्य से विमुख थे। उनके इन्कार के मूल मे उनका अज्ञान और उनकी निर्बलता थी। उनके साथी के नाते उनको सच्चे मार्ग पर लाने का मेरा धर्म था। इसलिए मैंने उनके सामने उनका प्रकट कर्तव्य उपस्थित किया। अहिसा-तत्त्व समझाया और चुनाव करने के लिए कहा। उन्होंने वैसा ही किया और इसमे कुछ भी बुरा प्रतीत नही हुआ।

इस प्रकार अहिंसा की दृष्टि से भी अपने कार्य मे मै पश्चात्ताप करने जैसी कोई बात नही देखता। कारण स्वराज्य मे भी जो लोग हथियार धारण करते होंगे उन्हें वैसा करने और देश की खातिर लडने के लिए कहने मे मै सकोच न करूँगा।

और इसी मे लेखक के दूसरे प्रश्न का उत्तर आ जाता है। मेरी मनोभिलाषा के स्वराज्य मे तो हथियारों की कहीं आवश्यकता न होगी, किन्तु आजकल के इस प्रजाकीय प्रयत्न द्वारा

वैसा हिन्दू स्वराज्य निर्माण करने की मेरी धारणा नहीं है। कारण एक तो इस वस्तु को तात्कालिक ध्येय के रूप मे सफल करने के लिए आज यह प्रयत्न नहीं हो रहा है और दूसरी बात यह कि प्रजा को इसके लिए तैयार करने के लिए योग्य कार्यक्रम निश्चित करने की योग्यता मुझमे है ऐसा मै नहीं मानता। मुझ-मे अभी इतने सारे विकार और मानवी दुर्बलतायें भरी हुई हैं कि ऐसे कार्य की प्रेरणा अथवा शक्ति मै अपने भीतर नहीं महसूस करता। मै तो इतना ही दावा करता हूँ कि मै अपनी प्रत्येक दुर्बलता को जीतने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता हूँ। मुझे प्रतीत होता है कि इन्द्रियों का दमन करने की शक्ति मैंने काफी प्राप्त कर ली है। तथापि मै यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि मैं इस स्थिति मे पहुँच गया हूँ कि मुझसे पाप हो ही नहीं सकता, इन्द्रियाँ मुझे पराजित नहीं कर सकतीं।

तो भी मै यह मानता हूँ कि पूर्ण अवर्णनीय निष्पाप अवस्था—जिसमे मनुष्य अपनी अन्तरात्मा मे अन्य सब वस्तुओं को लय करके केवल मात्र ईश्वर की उपस्थिति अनुभव करता है—प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिए सम्भव है। मैं मानता हूँ कि यह अभी बहुत आगे की अवस्था है और इसलिए सम्पूर्ण अहिंसा का कार्यक्रम जनता के आगे रखने का मै आज अपने को अधिकारी नहीं समझता।

इस महान तत्त्व की चर्चा के बाद रेल इत्यादि का प्रश्न तो सर्वथा गौण रह जाता है। मैंने स्वय इन सुविधाओं का व्यक्ति-

गत उपयोग करना नहीं छोडा और न मेरी यह अपेक्षा है कि जनता इनका उपयोग करना छोड दे। मै यह भी नहीं मानता कि स्वराज्य मे इन वस्तुओ का उपयोग बन्द कर दिया जायगा। तथापि मै इतनी आशा अवश्य रखता हूँ कि स्वराज्य मे जनता यह मानना छोड दे कि इन साधनों मे हमारी नैतिक उन्नति को आगे बढानेवाला कोई विशेष गुण है अथवा यह कि वे हमारी ऐतिहासिक उन्नति के लिए भी अनिवार्य हैं। इन साधनों की आवश्यकता की पूर्ति जितना ही उपयोग किया जाय और हिन्दुस्तान के ७५ हजार गाँवों को रेल-तार के जाल से पाट देने की अभिलाषा न रखी जाये यह मै जनता को अवश्य सलाह दूँगा।

जब स्वतन्त्रता की स्फूर्ति-द्वारा जनता तेजस्वी बन जायगी, उस समय उसे ज्ञात होगा कि ये साधन हमारी प्रगति की अपेक्षा हमारी गुलामी के लिए अधिक सहायक होने के कारण हमारे राज्यकर्ताओं के लिए जरूरी थे। प्रगति तो लँगडी स्त्री जैसी है। यह लँगडाती-लँगडाती कुदकती-कुदकती ही आती है, तार या रेल से उसको नहीं भेजा जा सकता।

'नवजीवन' : २० नवम्बर, १९२१

: ६ :

व्यवसाय में अहिंसा

यह अच्छी बात है कि अहिंसा के पुजारी बहुत सूक्ष्म प्रश्न खडे करते हैं। यह आदत तारीफ के लायक है। इसीसे आदमी आगे बढता है। लेकिन एक शर्त है। ऐसा न होना चाहिए कि दूध मे पडे कण के कारण दूध तो फेंक दें और हर घडी जो जहर पीते रहें उसकी परवाह तक न करें। ऐसे प्रश्नों से वे ही फायदा उठा सकते हैं जो बडी बातों मे सावधान रहते हैं, और भली भॉति सिद्धान्त को अमल मे लाते हैं।

सूक्ष्म प्रश्न यह है कि जिस खादी भंडार मे कम्बल बिकते हैं वहॉ से फौज के सिपाहियों के लिए कम्बल खरीदे गये। मुझसे भंडारवालों ने पूछा "क्या इस तरह कम्बल बेच सकते हैं ?" मैंने उत्तर दिया "बेच सकते हैं।" अगर ऐसा कर सकते हैं तो हम अहिंसक लोग हिंसक-युद्ध में सहायता नहीं देते ? एक तरह केवल सिद्धान्त से देखें तो उत्तर देना पड़ेगा कि "सहायता देते हैं।" और ऐसा उत्तर दें तो हम हिन्दुस्तान मे या जिस मुल्क मे युद्ध चलता हो वहॉ रह ही नहीं सकते, क्योंकि हम जो खाते हैं उससे भी लडाई मे मदद देते हैं। रेल के सफर से भी देते हैं। डाक भेजते हैं तो भी देते हैं। शायद ही कोई ऐसा काम हो जिससे हम ऐसी मदद देने से बच सकें। सरकारी सिक्के के इस्तेमाल मे भी मदद होती है। बात यह है कि अहिंसा जैसे

बुलन्द सिद्धान्त का सम्पूर्ण पालन कोई देहधारी कर ही नहीं सकता। यूक्लिड की रेखा लीजिए। उसकी हस्ती कल्पना मे ही है। सूक्ष्म रेखा भी कागज पर खींचें तो भी उसमे कुछ न कुछ चौडाई होगी ही। इसलिए व्यवहार मे सूक्ष्म रेखा खींचकर हम अपना काम चलाते है। सब सीधी दीवारें यूक्लिड के सिद्धान्त के मुताबिक टेढ़ी है। लेकिन हजारों वर्ष खडी रहती हैं।

ठीक यही बात अहिंसा के सिद्धान्त की है। जहाँ तक हो सके हम उसे अमल मे लावें।

कम्बल बेचने की मनाही करना मेरे लिए आसान था। लाखों की बिक्री मे कुछ हजार की बिक्री की क्या कीमत हो सकती है? लेकिन मेरी मनाही मेरे लिए शर्म की बात हो जाती, क्योंकि अपनी सच्ची राय को छिपाकर ही मैं मनाही कर सकता था। मै कहाँ-कहाँ मनाही की हद बाँधूँ ? मै चावल-दाल का व्यापारी होकर, सिपाहियों को चावल-दाल न बेचूँ ? गधी होकर, कुनैन या अन्य दवाइयाँ न बेचूँ ? न बेचूँ तो क्यों नहीं ? मेरी अहिंसा मुझे ऐसे व्यापार के लिए बाध्य करती है ? मैं ग्राहक की जात-पाँत खोजकर मर्यादा बाँधूँ ? उत्तर है कि मेरा व्यापार अगर समाज का पोषक है, हिंसक नहीं है, तो मुझे उसे करने मे ग्राहकों की जात-पाँत की खोज करने का अधिकार नहीं है। अर्थात् सिपाही को भी अपने व्यापार की वस्तु बेचना मेरा धर्म है।

सेवाग्राम मे, १८-९-४१ (चर्खा-द्वादशी)

———

सस्ता साहित्य मंडल

'सर्वोदय साहित्य माला' की पुस्तकें

[नोट—× चिन्हित पुस्तकें अप्राप्य है]

४४—जब अंग्रेज आये× १।=)
४५—जीवन-विकास १।)
४६—किसानों का बिगुल× =)
४७—फाँसी ! ।=)
४८—अनासक्ति योग =) ≡) ।)
४९—स्वर्ण-विहान× ।=)
५०—मराठों का उत्थान-पतन× ३।।)
५१—भाई के पत्र १।)
५२—स्वगत× ।=)
५३—युगधर्म× १=)
५४—स्त्री-समस्या १।।।)
५५—विदेशी कपड़े का मुकाबिला× ।।=)
५६—चित्रपट× ।=)
५७—राष्ट्रवाणी× ।।=)
५८—इंग्लैंड मे महात्माजी ।।।)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी सम्पद् ।=)
६१—जीवन-सूत्र ।।।)
६२—हमारा कलंक ।।=)
६३—बुद्बुद× ।।)
६४—संघर्ष या सहयोग ? १।।)
६५—गाँधी-विचार-दोहन ।।।)
६६—एशिया की क्रान्ति× १।।।)
६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता-२ १।।)
६८—स्वतन्त्रता की ओर १।।)
६९—आगे बढ़ो । ।।)
७०—बुद्ध-वाणी ।।=)
७१—कांग्रेस का इतिहास २।।)
७२—हमारे राष्ट्रपति १)
७३—मेरी कहानी (प० नेहरू) ३)
७४—विश्व-इतिहास की झलक (जवाहरलाल नेहरू) ८)
७५—पुत्रियाँ कैसी हों ? ।।।)
७६—नया शासन विधान-१ ।।।)
७७—(१) गाँवों की कहानी ।।)
७८—(२-६)महाभारत के पत्र ।।)
७९—सुधार और संगठन× १)
८०—(३) सतवाणी ।।)
८१—विनाश या इलाज ।।)
८२ (४)अंग्रेजी राज्य मे हमारी आर्थिक दशा ।।)
८३—(५) लोक-जीवन ।।)
८४—गीता-मथन १।।)
८५—(६)राजनीति-प्रवेशिका ।।)
८६ (७)अधिकार और कर्तव्य।।)
८७—गाधीवाद समाजवाद× ।।।)
८८—स्वदेशी और ग्रामोद्योग ।।)
८९—(८) सुगम चिकित्सा ।।)
९०—प्रेम मे भगवान् ।।।)
९१—महात्मा गाधी ।=)
९२—ब्रह्मचर्य ।।)

नवजीवनमाला

सामयिक साहित्य माला